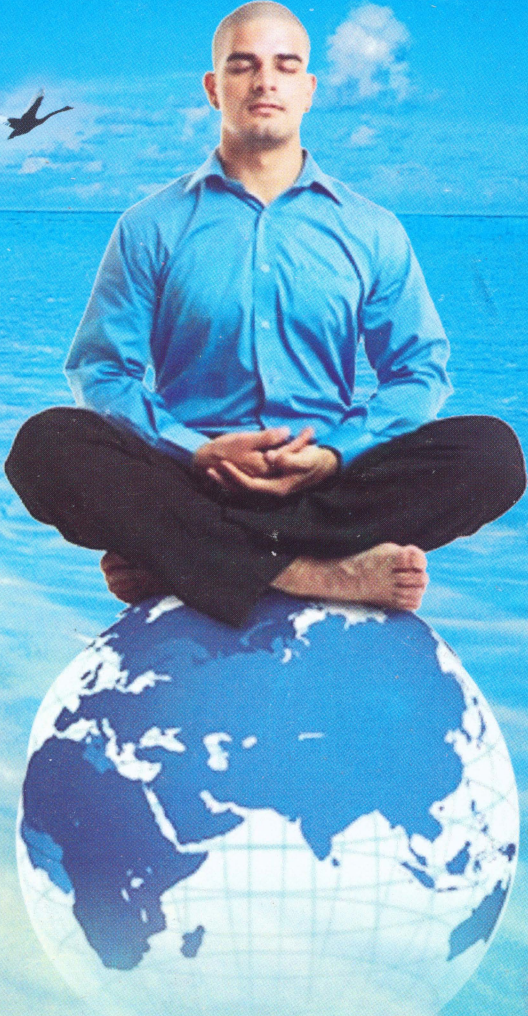
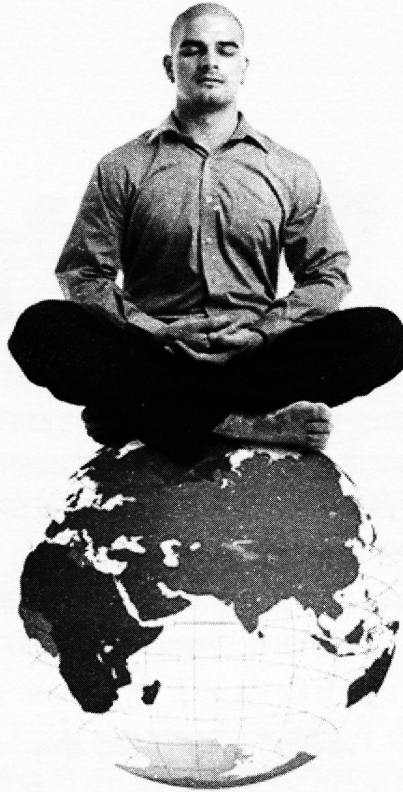


महोपाध्याय  
ललितप्रभ सागर



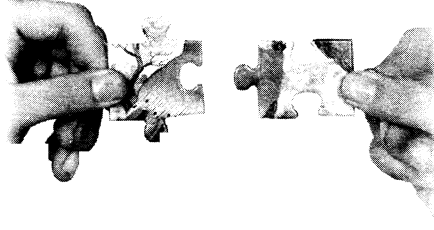
अध्यात्म  
का  
अमृत

# अध्यात्म का अमृत



महोपाध्याय  
ललितप्रभ सागर

अध्यात्म का अमृत  
श्री ललितप्रभ



नवम्बर, 2010 : चौथा संस्करण

प्रकाशक : श्री जितयशा फाउंडेशन  
बी-7, अनुकम्पा द्वितीय, एम. आई. रोड, जयपुर (राज.)

आशीष : गणिवर श्री महिमाप्रभ सागर जी म.

मुद्रक : हिन्दुस्तान प्रेस, जोधपुर

मूल्य : 40/-

# प्रवेश से पूर्व



जीवन और जगत के बीच एक गहरा अन्तर्-सम्बन्ध है। सांसारिक सम्बन्ध तो है ही, आध्यात्मिक सम्बन्ध भी है। जीवन जगत की एक सतत सनातन धारा है। जीवन जगत का प्रतिबिम्ब है और जगत जीवन का विस्तार है। मनुष्य यदि जगत की आपाधापी में ही स्वयं को खो दे तो यह मनुष्य का 'संसार' हुआ। जगत में जीकर भी अगर वह कीचड़ में खिलते कमल की तरह ऊपर उठ आये तो यह उसका 'अध्यात्म' हुआ।

जीवन का आधार उसकी अपनी आत्मा है। जीवन के जर्ने-जर्ने में आत्मा का निवास और प्रकाश है। आत्मा ही वह धुरी है जो जीवन को एक बार नहीं सौ बार मृत्यु से गुजर जाने के बावजूद सतत सनातन बनाए रखती है। सच तो यह है कि अध्यात्म आत्मा के ही आभामंडल का नाम है।

जीवन को अगर सार्थक करना है तो हमें जगत् में रहकर भी वीतद्वेष, वीतराग-भाव से जीना है। हमें अपने कर्तव्यों को निभाते हुए दुनिया में इस तरह जीना है कि काँटों में भी फूल खिल आयें, अंधेरे में भी रोशनी का रहनुमा साकार हो उठे। जीवन तो बस कोरे कागज की तरह है। उस पर जैसे रंग भर दें, जो चित्र उकेर दें, कागज पर वैसा ही उभर आएगा। जीवन के कागज पर क्रॉस तो लोग कर ही रहे हैं, हम अगर इन्द्रधनुष उकेर लें तो यह सार्थक पहल होगी।

प्रस्तुत पुस्तक अध्यात्म का अमृत महोपाध्याय श्री ललितप्रभ सागर जी की वह अनुपम कृति है जिसमें जीवन-जगत् के आन्तरिक रहस्यों को उद्घाटित किया गया है, अध्यात्म के अनछुए पहलुओं पर प्रकाश

डाला गया है। दिखने में ये सीधे-सादे नौ प्रवचन हैं, पर इनकी गहराई हर व्यक्ति को सीधे अपने अन्तर्मन में उतारती है। लेखक को नौ का अंक रास आया होगा। यह अखंड अंक माना जाता है। प्रभु करे, उनकी यह कृति भीतर-बाहर विभाजित हो रही मानवता को अखंडता और अन्तर्-सम्बद्धता का पावन संदेश प्रदान करे।

महोपाध्याय श्री ललितप्रभ सागर जी विद्वान एवं प्रतिभावान् संतप्रवर हैं। सौहार्द और सौजन्य की प्रतिमूर्ति तो हैं ही, प्रवचन-क्षेत्र में भी उनकी पेठ बेहद प्रशंसनीय है। प्रस्तुत पुस्तक में महोपाध्यायश्री के जिन नौ प्रवचनों को संकलित किया गया है वे हजारों लोगों की उपस्थिति में दिये गये उनके अमृत वक्तव्य हैं। यह वह अवदान है, जो भावी पीढ़ी का भी मार्ग प्रशस्त करता रहेगा। पुस्तक मानव-मन को प्रबुद्ध और प्रशस्त करने में सहकारी होगी, यह विश्वास है।

-श्री चन्द्रप्रभ

## प्रवचन-क्रम

---

1. पहचानें, भीतर के बन्धन	9
2. मूर्च्छा : क्यों न गई मन से	20
3. तृष्णा : कब मिलेगा किनारा	27
4. पढ़ें, मन का चरित्र	38
5. दुनिया के दलदल में खिलते कमल	49
6. स्थिति, शुद्धि और मुक्ति	61
7. संसार के आर-पार	72
8. सर्वोदय हो धर्म का	84
9. एकत्व का शाश्वत बोध	98



# पहचानें, भीतर के बन्धन



भगवान बुद्ध के समय की घटना है। मगध के बाहर अचिरवती नदी में कुछ मछुआरे मछलियाँ पकड़ रहे थे। वे लोग वर्षों से यह काम कर रहे थे। उस दिन भी इसीलिए नदी पर पहुँचे थे। एकाएक एक मछुआरा चिल्लाया कि उसके हाथ सोने की मछली लगी है। मछुआरों ने देखा कि वह मछली सूर्य की किरणों पड़ने से चमक रही थी। सोने की उस मछली की परीक्षा करने जब सभी मछुआरे मछली के निकट पहुँचे, तो उस मछली से भयंकर बदबू आ रही थी।

मछली पकड़ने वाले मछुआरे को सलाह दी गई कि इसे पुनः नदी में डाल दिया जाए अन्यथा यह पूरे नगर को दुर्गन्धित कर देगी। उस मछुआरे ने कहा, 'यह अभूतपूर्व मछली है। पहले मैं इसे राजा को दिखाऊँगा, उसके बाद नदी में डाल दूँगा।' वह उस मछली को एक डिब्बे में डालकर तथा कपड़े से उसका मुँह बाँधकर राजभवन पहुँचा। उसने वह डिब्बा राजभवन के बाहर ही रख दिया और भीतर जाकर राजा को सारी बात बताई।

राजा हैरान! सोने की मछली! कभी सुना न देखा। लेकिन जब मछुआरे ने कहा कि वह उस मछली को अपने साथ लाया है और राजभवन के बाहर रखा है, तो राजा राजभवन से बाहर आया। मछुआरे ने जैसे ही डिब्बे पर बाँधा कपड़ा खोला; पूरा वातावरण दुर्गन्धमय हो गया। राजा सहित सभी ने अपनी नाक पर कपड़ा रख लिया। उस मछली से आने वाली दुर्गन्ध के कारणों का पता नहीं चल पा रहा था।

राजा के आदेश पर वह मछली भगवान बुद्ध की सभा में ले जाई गई। राजा ने बुद्ध से पूछा, 'प्रभु! इस बदबू का क्या राज है?' बुद्ध ने कहा, 'यह मछली इन्सान के व्यक्तित्व की परिचायक है। इसका अतीत यह है कि यह



मछली पिछले जन्म में कपिल नामक संन्यासी थी। उसने गुरु महाकश्यप के पास ज्ञान पाया था, मगर वह गुरुद्रोह कर बैठा। संसार के प्रति उसकी आसक्ति इतनी बढ़ी कि वह वापस संसार में लौट गया।

‘जब कपिल मरा तो इस जन्म में इसे इस मछली का रूप मिला। उसने महाकश्यप के पास ज्ञान पाया था इसलिए इसका शरीर सोने का हो गया, मगर गुरुद्रोह के कारण इसमें बदबू हो गई।’ राजा ने कहा, ‘प्रभु! विश्वास नहीं होता।’ बुद्ध ने मछली की ओर देखा, तो वह फड़फड़ाई। बुद्ध ने कहा कि ‘तुम चाहो तो अब भी अपनी चेतना जाग्रत कर सकती हो।’ उसने कहा, ‘प्रभु! मैं आपकी शरणागत हूँ। मेरी भूलों को क्षमा कर दें। मुझे अपने धुँधले अतीत के लिए खेद है और भविष्य को उज्ज्वल करने के लिए मैं कृत्संकल्प होती हूँ।’ उसका इतना कहना था कि उसके प्राण निकल गए और जैसे चमत्कार हो गया। उस मृत मछली में से सुगंध आने लगी थी। उसे एक अर्हत का, महापुरुष का, सत्पुरुष का सान्निध्य मिल गया था। एक भगवत्-पुरुष का पावन सान्निध्य!

घटना तो तब हुई पर हमारे लिए आज भी प्रेरणादायी है। व्यक्ति साधना की पगडंडी पर कदम बढ़ाने के बाद भी गंदगी भरे मार्ग से गुजरता रहता है और मनोविकारों का पोषण करना रहता है। बहुत कम लोग ऐसे होते हैं, जो इस गंदगी से निर्लस रहकर आगे बढ़ जाते हैं। दरअसल हमारी आसक्ति के सूत्र इतने बारीक होते हैं कि उनके बंधन दिखाई नहीं देते मगर वे इतने मजबूत होते हैं कि उन्हें तोड़ना कोई आसान बात नहीं होती।

यही वे धागे हैं, जिनके बंधन के कारण आर्द्रकुमार बारह वर्षों तक संसार से जुड़े रहे। ये बंधन ऐसे हैं, जिन्हें तोड़ना काफी कठिन है। भीतर के बंधनों का विमोचन बहुत जरूरी है। कोई आदमी संसार त्यागकर पहाड़ों पर चला जाए, गुफा में बैठकर तपस्या करने लगे और सोचे कि मेरे बंधन तो टूट गए। शायद यह भ्रम है। अभी तो बाहर के कुछ बन्धनों से मुक्त होकर आये हो, पर भीतर के बन्धन.....। उनके विमोचन की तो यह शुरुआत है।

आदमी बाहर के बंधनों से तो छूट सकता है, मगर भीतर के बंधन से मुक्ति पाना आसान नहीं है। व्यवहार में हिंसा करनी छोड़ भी दोगे, तो क्या होगा, भीतर तो फिर भी हिंसा भरी पड़ी है। बाहर के बंधन का विमोचन तो बाहर से हो सकता है, लेकिन भीतर के बंधन को समाप्त करने के लिए बहुत अधिक प्रयास करने पड़ते हैं। हम जरा भीतर उतरकर देखें कि कैसे-कैसे बंधन हैं। स्थान व पहनावे जरूर बदल जाते हैं, पर आंतरिक बंधन तो रहता ही है।

मेरी नजर में साधना या संन्यास मात्र वेश का रूपांतरण या बाह्य-त्याग नहीं है। संन्यास तो मुक्ति-महल का शिलान्यास है, जीवन का आन्तरिक शुद्धिकरण है। वह बाहरी उज्ज्वलता भी किस काम की जिसके अन्तरंग में कल्मषता हो। यह तो ऐसे हुआ कि भीतर में विष भरा है, पर बाहर से अमृत का आरोपण किया गया है। संसार में थे, तब भी हमारा व्यक्तित्व बाह्य तत्त्वों से जुड़ा था और आज संन्यास में आ गये, तब भी बाह्य तत्त्वों से ही हम जुड़े हैं। जुड़ाव तो जारी है। ईमानदारी तो यह कि हमारी आसक्ति टूटती नहीं, मुड़ जाती है, खूंटे बदल जाते हैं। पहले घर, दुकान, परिवार, पैसे से राग था और अब गच्छ, सम्प्रदाय, गुरु और शास्त्र का राग कर बैठे।

प्रव्रज्या, जिसका सम्बन्ध जीवन के साथ था, हमारे अन्तर्-व्यक्तित्व के साथ, हमने मात्र बाह्य व्यक्तित्व से ही उसे जोड़ रखा है। प्रव्रज्या देने-लेने से पहले यह नहीं देखा गया कि बाहर में जो प्रव्रजित होने के भाव दिख रहे हैं, क्या अन्तरंग में भी उन भावों की कोई चमक है? अन्तरंग प्रव्रजित हो रहा है या नहीं। दीक्षा मात्र वेश बदलकर जीवन जीने का अभ्यास नहीं, अपितु जीवन रूपांतरण की साधना है।

मैंने देखा है, कुछ साधु लोग अपने पास ६-७ वर्ष के बच्चे रखते हैं। कहते हैं इसमें अभी से वैराग्य के बीज बो रहे हैं। मेरे प्रभु! उनको पूछो कि क्या अभी तक इस बच्चे ने राग की परिभाषा भी जानी है? तुम किसी प्रलोभनवश अगर एक ७-८ वर्ष के बच्चे को दीक्षा के लिए प्रेरित कर रहे हो तो यह न तो तुम्हारे लिए लाभदायक है, न बच्चे के लिए। भले ही ऐसा करके तुम पांच-दस शिष्यों के गुरु कहला लोगे, पर उस बच्चे के जीवन के साथ यह क्या सरासर नाइंसाफी नहीं होगी? माना कि आज वह बच्चा आठ वर्ष का है, आपने चाहे जैसे उसे मोड़ दिया, लेकिन अट्ठाईस वर्ष का होने के बाद क्या वह अपने जीवन के लिए सोचने की विचार-शक्ति नहीं रखेगा? आठ और अट्ठाईस, जिंदगी के इन दोनों पड़ावों में काफी फर्क होता है। एक बहिन जिसने किसी महाराज के पास ७ वर्ष का बच्चा देखा। पूछने पर उसे बताया गया कि इसे दीक्षा का, साधु-जीवन का प्रशिक्षण दिया जा रहा है। वह बहिन मुझे कहने लगी, महाराजजी! उस मासूम बच्चे को देखकर मुझे तो दया हो आयी। वह अभी तक यह भी समझ नहीं पाया है कि किसे दुनिया कहते हैं और किसे दीक्षा? आखिर यह कैसी दीक्षा! कैसी प्रव्रज्या! क्या युग की हवा उसके अंतरमन को प्रभावित नहीं करेगी!

दीक्षा मात्र किसी प्रेरणा से नहीं अपितु बोधपूर्वक ली जानी चाहिये, ताकि मनुष्य इस मार्ग पर मात्र बाहर से ही श्वेत वस्त्रधारी न हो, अपितु उसका अन्तरंग भी शुभ्र-श्वेत हो जाये। वहाँ संसार को छोड़ने का प्रयास-अभ्यास नहीं, अपितु स्वतः छूटना हो जाये।

इसलिए मेरे प्रभु! हम प्रव्रज्या के अंतरंग से वाकिफ हों। आप भले ही बाहर से प्रव्रजित न हो पायें, पर अपने अन्तरंग में प्रव्रज्या घटित कर सकते हैं। बाहर के संसार से मुक्त होना शायद सहज है, पर अन्तर के संसार का क्या होगा? बाहर के संसार को चाहो तो एक क्षण में छोड़ सकते हो, पर भीतर का संसार! जिसे अथाह संसार कहा गया, संसार सागर, शायद वह मनुष्य के भीतर ही है। बाहर का संसार तो काफी सीमित है, पर भीतर का संसार असीम है। साधना का मूल सम्बन्ध भीतर के बन्धनों से मुक्ति पाना है। भीतर के बन्धनों से मुक्ति पाने के उपाय बाहर की रेडिमेड पुस्तकों से नहीं मिलेंगे। किताबों से बौद्धिक प्रश्नों का जवाब मिल सकता है, पर जीवन के प्रश्नों का नहीं मिलता। महावीर और बुद्ध भीतर के बन्धनों को जानने और मुक्त होने के लिए ही वन में गये। बाहर का संसार तो क्षण-भर में छूट गया, पर भीतर का संसार नहीं छूटा। उससे मुक्त होने के लिए उन्हें वर्षों साधना करनी पड़ी। हकीकत में तो संसार मानसिक है, भौतिक नहीं है। वस्तुओं का संसार तो पलभर में त्यागा जा सकता है, पर मन का संसार, स्वप्नों का संसार! यह तो सब कुछ छोड़-छाड़ कर हिमालय की किसी गुफा में भी जाकर बैठ जाओगे, तो भी तुम्हारे भीतर जीवित हो सकता है।

मेरे देखे संन्यास का तात्पर्य मात्र संसार को छोड़ना नहीं है। पत्नी, पति, पुत्र, परिवार, पैसा छोड़ना कोई

जीवन की बहुत बड़ी क्रांति नहीं है। क्रांति तो मन को बदलने में है। अगर मन न बदला तो सब कुछ छोड़कर भी क्या छोड़ पाए? अतिमुक्त पानी छूकर भी पा गया, वह तो पानी में पात्र बहाकर भी कैवल्य पा गया और हम.....? शायद हर साधक के मन में ये प्रश्न कौंधते हैं, पर हृदय की आवाज सुनकर भी अनसुनी कर दी जाती है।

अन्तर में इतनी गहरी आसक्ति पल रही है कि हमारा जीवन, जो एक जलती हुई ज्योति बनना चाहिये था, दुर्भाग्यवश आज मात्र धुंआ बनकर रह गया है। सब कुछ क्षण-भंगुर है इस जग में, पानी के बुदबुदे की तरह, फिर किस बात की मूर्च्छा, कैसी आसक्ति?

अन्तर्-अस्तित्व को उपलब्ध करने के लिए एक प्यास जगाओ। देखो, चारों ओर आँखें खोलकर—सब कुछ अध्रुव, अशाश्वत है यहाँ। अर्थी को गुजरते देखो और गहरे उतरकर सोचो, तो लगेगा यह अर्थी किसी और की नहीं, स्वयं हमारी है।

एक फकीर, जो गाँव के बाहर कुटिया में रहता था, किसी एक राहगीर ने उस फकीर से पूछा, 'फकीर साहब! बस्ती जाने का रास्ता किधर है?' फकीर ने कहा, 'दायें बस्ती है और बायें कब्रिस्तान।' राहगीर दायीं ओर चला गया, पर उसे बस्ती तो न मिली, हाँ, वहाँ कब्रिस्तान अवश्य मिल गया। वह गलत मार्ग बताने के कारण फकीर पर झल्लाया। फकीर ने कहा, 'भैया! जैसा मैंने जाना, वैसा तुम्हें बता दिया। तुमने बस्ती के बारे में पूछा, तो जो कब्र में बसे हैं, वे सदा को बस गये हैं इसलिए उसे मैंने बस्ती कहा और जो गाँव में बसे हैं, वे कब्रिस्तान के रास्ते पर हैं। अब मैं कब्रिस्तान को बस्ती और बस्ती को कब्रिस्तान न कहूँ, तो क्या कहूँ?'

देखो जगत को, गहराई में जाकर देखो, उसकी व्यर्थता को देखो। कहीं कोई अर्थ न मिलेगा। उसकी व्यर्थता को देखकर तुम्हारे भीतर स्वतः प्रेरणा पैदा होगी। एक कसक उठेगी। कितने झूठे बंधन हमने बना रखे हैं, बांध रखे हैं। इन बंधनों की कहीं कोई मूल्यवत्ता नहीं है, किसी और ने नहीं बांधा है तुम्हें, तुम स्वयं बंधे हो। अपने ही हाथों तुमने बन्धनों का निर्माण किया है और बंधे हो। जीवन में जो ये अंगारे दिखाये दे रहे हैं, किसी और ने नहीं बिछाये हैं, तुमने खुद अपने ही हाथों बिछाये हैं और जीवन को कंटकाकीर्ण किया है। पर आश्चर्य, इन झूठे बन्धनों के प्रति हमारी इतनी गहरी आसक्ति हो गयी है कि ये हमें जीवन के सत्य प्रतीत होने लग गये हैं। हम जैसे जी रहे हैं, यह सब महज एक नाटक है। आज आपका नाम राजेन्द्र कुमार है, पर जब पैदा हुए तब तो आपका नाम राजेन्द्र कुमार नहीं था। आप बिना नाम के आये थे। लेकिन अब आपका नाम राजेन्द्र कुमार हो गया। अब इस नाम के साथ अगर कोई अपशब्द कह दे, गाली-गलौच कर बैठे, तो आप झगड़ा कर बैठेंगे। जब पैदा हुए थे तब अगर किसी ने राजेन्द्र कुमार को सैकड़ों गालियाँ दी होंगी, तब तुमने कोई प्रतिक्रिया थोड़े ही की थी! सामने वाला गाली देता तब भी तुम खिलौनों से खेलते रहते। नाम का तादात्म्य तुमने खुद बनाया। इसी तरह तुम्हारी जिंदगी के जितने आसक्ति के सूत्र हैं, सब तुमने बनाये हैं और सच्चाई तो यह है कि ये सब मिथ्या हैं। भ्रमवशात् यह झूठ ही तुम्हें सच नजर आ रहा है। हमें पुनर्विचार करना होगा। आसक्ति में फँसने के कारण जीवन सिवाय एक दुःख की गांठ के और क्या बचा है। इसलिए जो टूटेगा, वह झूठ टूटेगा, सत्य कभी टूटेगा—

गिरता नहीं है।

कहते हैं कि अमरीका में अब्राहम लिंकन का शताब्दी वर्ष चल रहा था। लिंकन पर पूरे देश में एक विशेष नाटक खेला जाना था। काफी खोज-पड़ताल करनेपर आखिर लिंकन का हमशक्ल आदमी मिल गया। उस आदमी को नाटक में लिंकन का पार्ट दिया गया। पूरे अमरीका में यह नाटक-मंडली घूमी। पूरे एक साल तक गाँव-गाँव, नगर-नगर में नाटक किया गया और वह आदमी हू-ब-हू लिंकन का रोल अदा करने लगा। लिंकन बोलते समय थोड़े तुतलाते थे अतः वह आदमी भी तुतलाने लगा। लिंकन का जैसा बोलने का ढंग, चलने-बैठने का जैसा ढंग, सब वैसा का वैसा ही। जिन्होंने लिंकन को देखा था, उन्हें तो विश्वास भी न हो रहा था कि क्या लिंकन की मृत्यु हुई है?

साल भर बाद नाटक-मंडली समाप्त हुई। वह व्यक्ति अपने घर गया। लिंकन के ही कपड़े पहने हुए, लिंकन की तरह ही लँगड़ाता हुआ वह अपने घर आकर पत्नी-बच्चों से तुतलाकर बोलने लगा। परिवार वालों ने समझा, मजाक कर रहा है। सब हँसने लगे, कहा अब छोड़ो, वह तो नाटक का रोल था, अब तो नाटक खत्म हो गया।

मगर वह व्यक्ति तो अब भी वैसे ही रहने-बोलने लगा, जैसे नाटक में लिंकन का पार्ट करते समय बोलता था। वह कोई मजाक नहीं कर रहा था। उसे तो विश्वास हो गया कि मैं लिंकन ही हूँ। चलना-उठना-बैठना-खाना-पीना सब कुछ लिंकन की तरह, वही लिंकन की तरह छड़ी पकड़कर लँगड़ाते हुए चलना। लोगों ने काफी समझाया, 'भैया, वह नाटक था और अब नाटक खत्म हो गया है।' बड़े-बड़े बुद्धिमान समझाकर थक गये, मगर वह व्यक्ति टस-से-मस तक न हुआ। वह तो दावे के साथ कहता था कि मैं लिंकन ही हूँ। तुम किस नाटक की बात कर रहे हो?

आखिर परिवार के लोग उसे किसी मनोचिकित्सक के पास लेकर गये। उसने भी कई उपाय किये, करंट के झटके भी दिये। मगर वह मानने को तैयार ही नहीं था कि मैं लिंकन नहीं हूँ।

उसी समय अमरीका में एक नई मशीन का आविष्कार हुआ था। झूठ को पकड़ने की मशीन। जिससे सच और झूठ उगलाना होता है, उस व्यक्ति के नीचे मशीन छिपा कर रख दी जाती है। जैसे कोडियोग्राम ग्राफ बनाता है, वैसे ही यह मशीन भी हृदय की धड़कनों का ग्राफ बनाती है। अगर आपने अनुभव किया हो तो जब आदमी झूठ बोलता है, तो उसके हृदय में धक्का लगता है और वह झटका ग्राफ पर आ जाता है।

इस मशीन का उपयोग ऐसे किया जाता है कि पहले-पहल तो ऐसे प्रश्न पूछे जाते हैं, जिनमें आदमी झूठ बोल ही नहीं पाता। फिर यकायक ऐसा प्रश्न पूछते हैं जिसका सही जवाब पता होता है। आजकल अदालतों में भी इन मशीनों का उपयोग होने लगा है। तो मनोचिकित्सक ने उस 'लिंकन' को उसी मशीन पर खड़ा किया और ऐसे प्रश्न पूछने शुरू किये, जिनमें वह झूठ बोल ही न सके। मनोचिकित्सक ने फिर पूछा, 'घड़ी में कितना बजा है?' उसने कहा 'दस बज कर चालीस मिनट।' मनोचिकित्सक ने कहा, 'मेरे हाथ में क्या है?' उसने कहा, 'बाइबिल की किताब।' मनोचिकित्सक ने पूछा, 'सामने की दीवार का कलर क्या है?' उसने कहा,

‘काला’। ऐसी बहुत-सी बातें पूछी गयीं, जिनमें वह झूठ बोल ही न सके। सबका ग्राफ एक जैसा बनता चला गया।

आखिर उस मनोचिकित्सक ने पूछा, ‘तुम कौन हो?’

वह आदमी तब तक थक गया था। उसने सोचा, ‘झंझट खत्म करो। आखिर कब तक विवाद करता रहूंगा? क्यों न साफ कह दिया जाये कि मैं लिंकन नहीं हूँ। भीतर का सत्य तो मैं जानता ही हूँ कि मैं अब्राहम लिंकन हूँ, अब इन लोगों से कौन सिरपच्ची करे?’

मनोचिकित्सक ने वह कुछ जवाब दे, उससे पहले ही फिर पूछा, ‘क्या तुम अब्राहम लिंकन हो?’

उसने कहा, ‘नहीं, मैं अब्राहम लिंकन नहीं हूँ।’

पर आश्चर्य, नीचे मशीन ने जो ग्राफ दिया, उसमें बताया गया कि यह आदमी झूठ बोल रहा है। बात इतनी गहरी हो गयी कि सच झूठ हो गया और झूठ सच।

हमारे ये बन्धन और आसक्ति के सूत्र भी आरोपित ही हैं। इनको हमने सत्य मान लिया है, जैसे उस व्यक्ति ने अपने को लिंकन मान लिया था। अब अगर आपको कोई कहे कि ये सब झूठ हैं तो आपको उसकी बात ही झूठी लगेगी। इसलिए तलाश करो अपने अन्तर में, कितने बँधे हो तुम अभी तक भीतर से, बाहर में निर्ग्रन्थ कहला कर भी। निर्ग्रन्थ मात्र बाहर से नहीं बल्कि हमें भीतर से होना पड़ेगा। ग्रन्थियाँ तो मनुष्य के भीतर ही हैं। वेश का रूपांतरण तभी उपलब्धिपूर्ण हो सकता है, जब अन्तर का रूपांतरण हो जाये। अन्यथा खूँटे भले ही बदल जाए, तुम्हारे गले में तो रस्सा बँधा ही रहेगा।

एक गाय के गले में रस्सी डाल दी, फिर उसे किसी खूँटे से बांध दिया। बाद में जरूरत हुई तो उसे वहाँ से हटा कर दूसरे खूँटे से बांध दिया। खूँटा तो बदला, मगर बंधन तो कायम रहा। आदमी के साथ भी ऐसा ही हो रहा है। पहले वह माँ-बाप से जुड़ा रहता है, फिर पत्नी से जुड़ाव हो जाता है। संन्यास लेने के बाद भी आदमी बंधनमुक्त नहीं हो पाता। तब सम्प्रदाय, उपाश्रय आदि का राग भी बंधन हो जाता है। भीतर से रूपांतरित न हो पाने के कारण बंधन के स्थान तो बदलने पर भी जारी रहते हैं।

खूँटे बदलते गए, मगर जिन्दगी में कहीं कोई बदलाव नहीं आ सका। संसार छोड़ दिया और मुनित्व स्वीकार कर लिया, मगर अन्तर्-संसार की आसक्ति नहीं छोड़ पाए। वही आसक्ति, लालसा, कामना का संसार मनोवृत्तियों में छाया रहा। ज्ञानी कहते हैं, संसारी का संसार के प्रति राग व आसक्ति को छोड़ना तो आसान है, मगर एक संन्यासी का संन्यास के प्रति राग तोड़ना मुश्किल है।

संसार के जिन बन्धनों को बन्धन कहते हैं, संसारी सारे बंधन तोड़ सकता है, क्योंकि वे बाहरी बंधन हैं, मगर भीतर में भी तो मनुष्य के अनन्त बन्धन के निमित्त होते हैं। आदमी मुनि बनकर निश्चित रूप से बाहर के कई बन्धनों से किसी अंश तक मुक्त हो जाता है, पर भीतर के बन्धन तो मुनि बनने के बाद मुक्त होते हैं। इसलिए एक संन्यासी बनने के बाद बन्धन-मुक्ति के लिए व्यक्ति की जिम्मेदारियाँ बढ़ जाती हैं।

संन्यासी के बंधन बाहर के कम भीतर के ज्यादा होते हैं, इसलिए वह उन्हें नहीं तोड़ पाएगा और जब तक ऐसा न होगा वह कपिल का जीवन जियेगा और बाद में स्वर्ण मछली बन कर अपनी दुर्गन्ध से वातावरण खराब करेगा। वह भगवा बाना भले ही पहन ले, किन्तु उसकी दुर्गन्ध उसकी पोल खोलने के लिए काफी है। जीवन को जब तक सम्मोहन के दायरे से दूर नहीं करोगे, तब तक बदलाव नहीं आ सकेगा। दीक्षा ले लोगे, प्रव्रजित हो जाओगे, मगर जीवन में परिवर्तन नहीं कर पाओगे। ऐसा न हुआ तो मात्र वेशान्तरण किस काम का ?

एक बात और ध्यान में ले लेने जैसी है कि हमारा जीवन संसार से विपरीत जाने के लिए नहीं है, अपितु उससे उपरत होने के लिए है, मुक्त होने के लिए है। अगर संसार की निंदा में तुम्हारे वचन प्रयुक्त हो रहे हैं, तो उनसे वीतराग का मार्ग न मिल पायेगा। यह तो ऐसा हुआ कि कल तक तुम संसार की तारीफ कर रहे थे, क्योंकि उससे राग था और आज उसकी निंदा कर रहे हो, तो क्या उससे द्वेष हो गया ? त्याज्य है मेरे प्रभु, यह द्वेष भी त्याज्य है। आखिर संसार की निंदा से तुम्हें क्या मिलेगा ? पहले राग के रूप में तुम्हारे भीतर संसार बसा था और अब द्वेष के रूप में, पर संसार तो बसा हुआ ही है। तुम संसार से मुक्त कहाँ हो पाये ? माना कि कीचड़ कीचड़ है, वह त्याज्य है, पर त्याग के बाद उसकी निंदा क्यों ? आखिर उसी कीचड़ ने तुम्हें अस्तित्व दिया है, तुम्हारा कमल खिलाया है। इसलिए कीचड़ की निंदा में मत पड़ो क्योंकि तुम्हारी कली कीच से उठकर ही खिली थी, इसलिए वह भी धन्यवाद की ही पात्र है। हाँ, अब तुम कमल की तलाश शुरू करो। उस ब्रह्म-कमल की, जो तुम्हारे जीवन को सुवास से सराबोर कर दे।

इसलिए वीतराग का अर्थ मात्र राग-मुक्ति ही नहीं है और न ही जहाँ राग-भाव था, वहाँ द्वेष-भाव पैदा करना है। वीतराग को द्वेष-मुक्त भी होना पड़ेगा। तुम्हें बंधनों का स्थानान्तरण थोड़े-ही करना है, तुम्हें तो उससे मुक्त होना है और जो लोग केवल वेशान्तरण करके ही मुनि बनते हैं, वे केवल खूँटे बदल लेते हैं और जहाँ-जहाँ राग के, प्रशंसा के भाव थे, वहाँ-वहाँ द्वेष-निन्दा के भाव पैदा कर लेते हैं। कल तक तो तुम धन-सम्पत्ति की तारीफ कर रहे थे, आज उसी की निन्दा कर रहे हो, आखिर दोनों से मानसिक रूप से तो तुम जुड़े ही हो।

मैंने बांका के जीवन का एक प्रसंग सुना है जो भारतीय सन्त-परम्परा में अद्वितीय प्रसंग है। बांका वास्तव में एक गृहस्थ संत रांका की पत्नी थी। रांका काफी त्यागी-तपस्वी व्यक्ति थे और अत्यन्त निर्मोही जीवन जीते थे। पति-पत्नी प्रतिदिन जंगल से लकड़ियाँ तोड़कर लाते और जैसे-तैसे एक समय भोजन की व्यवस्था कर लेते। एक दिन रांका-बांका दोनों लकड़ी तोड़ कर आ रहे थे। बांका रांका से कोई दो फर्लांग पीछे चल रही थी। अचानक रांका ने देखा कि मार्ग में एक सौनेयों की थैली भरी पड़ी है। रांका दो क्षण रुके, कुछ सोचा और उस सौनेयों की थैली को पास पड़ी मिट्टी से ढकने लगे। तब तक उनकी पत्नी बांका भी वहाँ पहुँच गयी। उसने पूछा 'क्या कर रहे हो ?' रांका ने कहा, 'ऐसे ही, कुछ नहीं। यहाँ सौनेयों की थैली पड़ी थी, उस पर मिट्टी डाल रहा हूँ यह सोचकर कि कहीं सौनेयों को देखकर तुम विचलित न हो जाओ।'

बांका मुस्करायी और कहने लगी, 'क्यों नाहक मिट्टी को मिट्टी से ढक रहे हो ?'

रांका के कान पकड़ा, कहा- 'सच में मैं भूल कर रहा था।'

मैं आपसे यही कह रहा हूँ कि हम हमारी मानसिक सोच को बदलें, कहीं ऐसा न हो कि जीवन ही धुंआ बन जाये। ऐसा जीवन तो मृत्यु से भी बदतर है, जो मसाल न बन पाया और मात्र धुंआ ही बना रह गया।

पाना नहीं, जीवन को बदलना है साधना।  
धुंए-सा जीना व्यर्थ है, जलना है साधना॥  
मुंड मुंडाना बहुत सरल, मन का मुंडन आसान नहीं।  
व्यर्थ भभूत रमाना तन पर, गर भीतर का भान नहीं।  
पल-पल समता में इस मन का, ढलना है साधना॥  
मंदिर में हम बहुत गये पर, मन यह मंदिर नहीं बना।  
व्यर्थ शिवालय में जाना, जो मन शिव-सुन्दर नहीं बना।  
जग की पीड़ा में मोम-सा, पिघलना है साधना॥  
सच्चा पाठ तभी होगा, जब जीवन में पारायण हो।  
साँस-साँस धड़कन से, जुड़ी हुई रामायण हो।  
प्रभु प्रेम-पंथ पर जन-जन का चलना है साधना॥

सिर का मुंडन करना और शरीर पर भभूत लगाना सरल है। यह सब कुछ तो आसान है पर मन का मुंडन और आत्मा का ज्ञान पाना ही तो साधना का उद्देश्य है। अगर मन को न साध पाये, 'मन ना रंगाये, रंगाये जोगी कपड़ा' वाली स्थिति हमारी रही, तो शरीर को आतापना देने के लिए भले ही तुम धूप में खड़े हो जाओ, पर मन तो छाया ही चाहेगा। शरीर से उपवास कर लोगे पर मन भोजन में भटकता रहेगा। शरीर क्या कर रहा है यह खास बात नहीं है। खास बात है मन क्या कर रहा है? इसलिए मात्र वेश के नहीं, जीवन के साधु बनें, सिर के साथ-साथ मन को भी मुंडित करने का प्रयास करें।

मात्र वेशान्तरण ही साधु-जीवन होता तो हर कोई साधु बन जाता। अगर नग्नत्व ही मुनि बनने की निशानी होती तो नहाते समय तो हरेक होता ही है। लेकिन केवल इतने से जीवन में साधुता का फूल नहीं नहीं खिल सकता। लोग साधु बन जाते हैं और अपने प्रवचनों में प्रचार करते फिरते हैं कि मैंने पचास लाख की सम्पत्ति छोड़ कर संन्यास लिया। एक व्यक्ति संन्यासी बना। मैं उसे पहले से जानता था। वह अतीत की गाथायें गाया करता था। वह प्रायः कहता कि मैं सत्तर लाख की सम्पदा छोड़ कर आया हूँ। एक दिन मैं भी वहाँ चला गया। वह मुझे नहीं पहचान पाया। मैंने उससे पूछा कि महाराज! आप तो वही हैं ना, जो अमुक मोहल्ले में डाक बांटा करते थे। वह हैरान हुआ, लेकिन सच्चाई स्वीकारने की जगह वह मुझ पर क्रोधित हो उठा। मैंने तो वहाँ से खिसकना ही ठीक समझा।

बाहर से तो छोड़ आए, मगर भीतर राख के नीचे अभी चिंगारियां जिंदा हैं। जीवन रूपांतरण की बजाय मात्र वेश रूपांतरण अपनी अपेक्षा पूर्ण न कर पायेगा। खूटे बदल रहे हैं, बंधन नहीं बदला। जब तक खूटे बदलते रहोगे, जंजीर तो रहेगी।

हमारी आसक्ति के धागे भी गजब के हैं। ऐसा नहीं है कि व्यक्ति केवल परिवार के प्रति ही आसक्ति रखता है, हम तो छोटी-छोटी चीजों के प्रति आसक्त होते चले जा रहे हैं। ऊपर से विडम्बना यह है कि हम आसक्ति के इन बिन्दुओं को समझ भी नहीं पाते।

हमारा राग केवल शक्कर से ही नहीं, नमक के प्रति भी है। मिठास ही नहीं, कड़वाहट के प्रति भी आसक्ति है। हम राग के दायरे से निकल ही नहीं पाते। सब्जी में नमक कम हो तो हम पत्नी पर झल्ला उठते हैं। भोजन हमारे जीवन की आवश्यकता है, मगर हमने उसके प्रति भी आसक्ति कर ली।

सम्मोहन के दायरे काफी विस्तृत हैं। छोटी-छोटी चीजों के प्रति हमारी गहन आसक्ति है। व्यक्ति साधना के मार्ग पर तो कदम बढ़ा लेता है, मगर आसक्ति के कारण उसे स्वर्ण-मछली का जीवन मिलता है। आदमी संन्यासी हो जाता है, लौकिक प्रगति करते हुए वह समाज का आचार्य भी बन जाता है, मगर भीतर के बंधनों से नहीं छूट पाता। बाहर के बंधन तो टूट जाते हैं, मगर भीतर, जो बेड़ियाँ लगी हुई हैं, वे टूट नहीं पाती हैं। भीतर के बंधन तो जारी ही रहते हैं। संसार में रहना गलत नहीं है, लेकिन संसार के प्रति जो यह सम्मोहन है, उसे तोड़ना जरूरी है।

आदमी अपने अहंकार की पूर्ति के लिए झूठ बोलता है। अपनी इच्छा से चोरी करता है, गलत काम करता है। ये सारे कार्य आसक्ति के कारण ही हो रहे हैं। आदमी की आसक्ति है भी बहुत गहन। कहीं यात्रा करने जाते हो तो सीट का आरक्षण करवाते हो। उस आरक्षित सीट के प्रति भी आसक्ति इतनी गहरी हो जाती है कि पूरे रास्ते 'मेरी सीट, मेरी सीट' करते रहते हो। एक बात याद रखो, सम्मोहन कभी 'सच्चाई' नहीं हो सकता। वह हमेशा झूठ ही होता है।

दुनिया में जीना है तो ऐसे जीओ, जैसे भरत जिये और जैसे जनक जिये। संसार में रहते हो तो परिवार का पालन-पोषण जरूरी है, मगर संसार से चिपटा रहना ठीक नहीं है। आवश्यकता के अनुसार वस्तुओं का उपयोग जरूर करो, मगर आवश्यकता पूरी होते ही उसे छोड़ दो अन्यथा होता यह है कि व्यक्ति की आवश्यकताएँ तो पीछे छूट जाती हैं किन्तु आकांक्षाएँ व्यक्ति के पीछे पड़ जाती हैं। आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए ही आदमी गलत काम करता है और आकांक्षाएँ कभी समाप्त नहीं होती, वे बढ़ती ही जाती हैं।

सारी जिन्दगीभर भटक लो किन्तु हमारी इच्छा, लालसा व कामना का कहीं अंत नहीं होगा। ज्ञानी कहते हैं कि इच्छाओं को कम करो, क्योंकि इच्छाएँ आकाश की तरह अनन्त हैं। क्या आकाश का कहीं ओर-छोर दिखाई देता है? उसी तरह इच्छाएँ हैं। पता नहीं कब, कौनसी इच्छा पैदा हो जाए? इच्छाएँ दूसरों को देखकर भी बढ़ती हैं। पड़ोसी के पास स्कूटर है, तो आपको भी स्कूटर चाहिए। स्कूटर होगा तो कार की इच्छा होगी। इच्छाओं का कहीं कोई अंत नहीं है। जीवन का अन्त है, पर इच्छाएं अनन्त हैं।

पैसे खूब कमाए, स्थिति बदल गई। झोंपड़ी से महल में आ गए, मगर इच्छाएँ समाप्त नहीं हुईं। तीन हजार कमाते थे, तीन लाख कमाने लग गए, मगर भूख नहीं मिटी। यह क्यों नहीं सोचते कि उस समय क्या हाल होगा, जब लाद चलेगा बंजारा। फिर क्यों इतना अनाचार-अत्याचार? जब तक तुम्हारे जीवन की आवश्यकता है, तब



तक गलत काम करते हो तो बात समझ में आती है, मगर आकांक्षाओं का तो कहीं कोई अंत ही नहीं है फिर उनके मायाजाल में क्यों फंस रहे हो।

आदमी जब इच्छाओं का गुलाम बनकर उनकी पूर्ति के लिए भागदौड़ करने लगता है, तो उसके जीवन में सुख की बजाय दुःखों में वृद्धि होने लगती है। इच्छाओं को रबर की तरह खींचना बंद करें, ताकि तुम्हारे जीवन में जो तनाव बढ़ता जा रहा है, वह कम हो सके। आदमी प्रवचन सुनने जाता है, गुरु महाराज की शरण में जाता है, लेकिन उसका तनाव कम नहीं होता। वह अपने मन को एकाग्र नहीं कर पाता। एकाग्रता का पहला सूत्र यह है कि आदमी अपनी इच्छाओं पर लगाम लगाए, अंकुश लगाए।

आज से पचास साल पहले आदमी की आवश्यकताएँ सीमित थीं, तो आकांक्षाएँ भी कम थीं, मगर भौतिकता की दौड़ में आदमी इतना अधिक आगे चला गया कि उसके सुख, शांति, सुकून सब पीछे छूट गए। पहले आपके मन में टी.वी. नहीं आता था, हवाई जहाज नहीं आता था, मगर आज टी.वी. ने आपका बहुत सारा समय छीन लिया है। आपकी सामाजिक एवं पारिवारिक शांति तथा व्यवस्था खतरे में पड़ती जा रही है। आप जरूरी काम भी छोड़ देंगे, मगर अमुक धारावाहिक देखना नहीं चूकेंगे क्योंकि हमारी प्राथमिकताएँ ही बदल गई हैं।

इंसान जैसे-जैसे प्रगति कर रहा है, भीतर से उसकी अवनति हो रही है। वह अंधेरे की ओर जा रहा है। इसका कारण जीवन में बढ़ती हुई हमारी आकांक्षाएँ हैं। जरा सोचें कि जब दुनिया से रवाना होंगे तो केवल पाँच फीट जमीन हाथ लगेगी। उस पर भी आपकी राख ही मिलेगी। माटी में माटी (शरीर) मिल जाएगी। इसलिए जड़ पदार्थ से मोह छोड़ो, चेतन के प्रति बोध जगाओ और फिर उससे भी ऊपर उठ जाओ। हम चेतन में जीकर चिन्मय हो जायें, यही एक-मात्र लक्ष्य होनी चाहिए।

आदमी माटी के इस शरीर को सोने, चांदी से सजाता है। वह यह भूल जाता है कि ये भी तो एक तरह से चमकीली माटी ही है। आदमी माटी को माटी से ही सजा रहा है। आदमी छोटा-सा है मगर उसके अरमान, आकांक्षाएँ काफी ऊंचे हैं। पाँच फुट की इस काया में कितने लम्बे-चौड़े अरमान समाए हुए हैं! हमें दूकान, मकान और रिश्तों में बदलाव नहीं लाना है। हमें अपनी जिन्दगी को बदलना है। संसार में जीओ तो ऐसे जैसे कीचड़ में कमल रहता है। भरत और जनक भले ही संन्यासी नहीं बने, मगर उन्होंने ऐसा जीवन जिया कि वे समाधि को आत्मसात् कर गए। भरत ने तो गृहस्थ जीवन में रहते हुए भी परम ज्ञान पा लिया था।

घर में रहना बुरा नहीं है। हम घर में रहें, लेकिन आसक्ति के धागों को पहचानें। अगर ऐसा नहीं किया तो आने वाला कल ऐसा होगा कि जब हम मृत्यु के निकट होंगे, तो हमारे दिमाग में परमात्मा का नामो-निशान तक नहीं होगा। मृत्यु मनुष्य के जीवन की परीक्षा है। जिस व्यक्ति ने जीते जी कुछ पाया, वही मरते समय कुछ उपलब्ध करके जाएगा। जिसने जीवन निरर्थक गँवाया, वह तो उत्तीर्ण नहीं होगा। इस परीक्षा में उसे शून्य अंक मिलेगा। हमें चिंतन करना चाहिए कि हम उत्तीर्ण होने के करीब कैसे पहुंचें ?

लोग कहते हैं- अभी जल्दी क्या है, बाद में राम का नाम जप लेंगे। अरे, अभी जब समय तुम्हारे पास है,

तब भी तुम राम का नाम नहीं जप रहे हो तो उस समय क्या जपोगे, जब साँसें टूटने को होंगी ?

अंतिम समय राम का नाम जपने के भुलावे में रहने वाले लोग चूक रहे हैं। उस समय तो विरले लोगों को ही 'राम' याद आता है। अधिकांश लोग तो अपने परिजनों की याद ही करते हैं। मेरा बेटा कहाँ है, मेरी माँ कहाँ है, पत्नी कहाँ है ? आदमी सबके बारे में पूछ लेगा मगर वह खुद कहाँ है, इसकी उसे चिंता नहीं होगी। जगत का चक्र है ही ऐसा। मरते समय भी संसार में उलझाव ! भला कैसे होगा हमारे जीवन का उद्धार !

मोक्ष पाना है तो जीवन की मूल्यवत्ता को समझो। जीवन के सार को ग्रहण करो, अन्यथा होगा यह कि जीवन भर चाह तो करते रहोगे कि स्वर्ग में जाना है, मगर पहुँचोगे नरक में। लोग दोहरा जीवन जीते हैं। वे नाम तो राम का लेते हैं, मगर कृत्य रावण के करते हैं। नाम कृष्ण का लेते हैं और आचरण कंस का करते हैं।

यही तो हमारे जीवन का दोहरापन है। जब तक यह समाप्त नहीं होगा, हम जीवन की आसक्ति को नहीं पहचान पाएँगे। हमने ये जो मुखौटे लगा रखे हैं, उन्हें उतारना होगा। जब तक असली, असली और नकली, नकली न साबित हो जाए, तब तक हम जीवन में मोक्ष का मार्ग आत्मसात् नहीं कर पाएँगे।

हम यदि नर से नारायण बनना चाहते हैं, आत्मा को परमात्मा के रूप में ढालना चाहते हैं तो हमें जीवन की वास्तविकताओं को समझना होगा। हमने जीवन की हकीकत को खो दिया तो जो कुछ भी हाथ लगेगा, वह कार्बन कॉपी होगा क्योंकि मूल तो हमारे हाथ से निकल जाएगा। हकीकत तो यह है कि हमारा जीवन मूल कॉपी नहीं है, जो कुछ भी है, वह मन, विचार और शरीर की उपलब्धि है। इसके अलावा कहीं कोई उपलब्धि नहीं है।

यह जानते हुए भी कि माटी का यह शरीर एक दिन माटी में ही मिल जाना है, हम नहीं चेत रहे हैं तो यह एक गंभीर बात है। हमें चिंतन करना होगा और अन्ततः जीवन की राह पर सही ढंग से चलना शुरू करना ही होगा, अन्यथा जीवन और अध्यात्म का केवल नाम लेकर हम अपना जीवन नहीं सुधार सकेंगे। हमें जीवन का सम्राट बनना है या भिखारी, यह हमारे ही हाथ में है, हमारे ही कर्मों पर निर्भर है। बाहर से कोई हमारा भला करने नहीं आएगा। जागिये, जब जागे, तभी सवेरा होता है, इस उक्ति को वास्तविकता के धरातल पर लाकर हम ईमानदारी से भरा जीवन जी सकते हैं।

# मूर्च्छा : क्यों न गई मन से?



गीता में भगवान ने संदेश दिया है—‘मूर्च्छा तोड़ो, समर्पित भाव से कर्म करो, अनासक्तिपूर्वक जीओ।’ गीता का यह संदेश मनुष्य के लिए वरदान है। धर्म और अध्यात्म का यह बड़ा व्यावहारिक रूप है। मूर्च्छा का टूटना ही सांसारिक व्यामोह और आसक्ति से मुक्ति है। समर्पित भाव से कर्म करना हमारी कर्मठता और भक्ति है। तीसरे चरण में मैंने जो बात कही है कि अनासक्तिपूर्वक जीओ, वह इसलिए कि जीवन और कर्तव्य के प्रति होश और जागरूकता बनी रहे। फल की इच्छा के हम मोहताज न हों। कर्म हमारा पौरुष है और गीता तो कहती है—‘कर्मण्यैवाधिकारस्ते’—कर्म ही तुम्हारा अधिकार है।

हर व्यक्ति की यह मंशा रहती है कि वह जो कर्म कर रहा है, उसका उसे पूरा फल मिले। तुम कर्म जितना फल चाहो, वहाँ तक तो ठीक है, पर कर्म और पुरुषार्थ तो करते हैं लॉटरी की टिकट खरीदने का, दो-पाँच रुपये का और फल चाहते हैं अपने नाम लॉटरी खुल जाने का, लाखों-करोड़ों का। जब लॉटरी अपने नाम नहीं खुलती है, तो भगवान को कोसने लगते हैं। यह वास्तव में भक्ति नहीं है। यह तो हमारी मूर्खता और अंधता है।

मूर्च्छा टूटे, बेहोशी मिटे, हम में कुछ समझ विकसित हो, कुछ जागरूकता आये, यह जरूरी है। हमें जीवन के प्रति जागरूक होना चाहिये। जीवन सोये-सोये जीने के लिए नहीं है। हमारी बेहोशी टूटे तो ही हम सही मायने में धर्म को जी सकते हैं, तो ही हम आत्मनिष्ठ और परमात्म-निष्ठ हो सकते हैं, अन्यथा सब लीपा-पोती है, भेड़-धसान है।

संसार तो बेहोशी का विस्तार मात्र है। हम प्रायः बेहोशी में ही जीवन पूरा कर लेते हैं। हमारा संसार बेहोशी

का संसार है और यह बेहोशी निरंतर फैलती जा रही है। हमें इस बेहोशी को समाप्त कर होश में आना है। अन्तर मन में चलने वाली बेहोशी को छोड़ना ही जीवन में जागरूकता का शंखनाद करना है।

बेहोशी दूर करके हमने बोधि को जगा लिया तो हमारा हर 'सत्कर्म' होगा। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि एक व्यक्ति ऐसा है जो अयतन से सारे कृत्य करता है और दूसरा हर काम यत्न से, जतन से करता है। अयतनाचारी हिंसा न करते हुए भी हिंसक हो जाता है और यतनाचारी हिंसा करते हुए भी अहिंसक हो सकता है, क्योंकि हिंसा और अहिंसा का सम्बन्ध व्यक्ति की जागरूकता के साथ है। यदि आप यत्न, विवेक और सजगता से जी रहे हैं तो आप जो कुछ कर रहे हैं, वह सत्कर्म है। फिर यह बात गौण है कि हम क्या कर रहे हैं ?

जीवन तो हर आदमी जीता है। हम जी रहे हैं, यह बात महत्वपूर्ण नहीं है बल्कि हम किस तरह जी रहे हैं, इस पर ध्यान देना जरूरी है। जीवन की तीन अवस्थाएँ हैं— जाग्रतावस्था, सुषावस्था और स्वप्नावस्था। हमें तो जाग्रतावस्था में जीना है। अधिकांश लोग स्वप्न में जीते हैं। उनका पूरा जीवन स्वप्नावस्था में ही बीत जाता है। जब तक हम उन सपनों से अपने आप को मुक्त नहीं करेंगे, हम संसार की भूल-भुलैया में ही उलझे रहेंगे।

स्वप्न भी बड़ी अजीब चीज है। आँखें बंद, नींद में आदमी गाफिल, मगर न जाने कहाँ-कहाँ की यात्रा कर आता है ? ऐसी-ऐसी घटनाएँ देख लेता है, जिनका कोई सिर पैर नहीं होता। जो काम आदमी जाग्रतावस्था में पूरे नहीं कर पाता, उन्हें स्वप्नों में पूरा करता है। यह बात नहीं है कि आदमी अच्छे स्वप्न ही देखता है, उसे बुरे-डरावने स्वप्न भी आते हैं। ये वे स्वप्न होते हैं, जिनका सम्बन्ध हमारी कुत्सित भावनाओं से होता है। दिन के उजाले में तो हम उनका इजहार नहीं कर सकते, मगर रात्रि में उन्हें स्वप्नों में देखकर हम आनन्द की अनुभूति करते हैं।

कोई आदमी कायर है और उसे लड़ाई-झगड़े से डर लगता है, वह किसी से पिट कर आ जाएगा, लेकिन स्वप्नों में उसकी सोयी इच्छाएँ जाग उठेंगी। उसे ऐसा लगेगा जैसे वह बहुत बलवान है और दिन में जिससे पिट कर आया था, उसकी जोरदार पिटाई कर रहा है। इसी से उसको संतोष मिलता है। यह जीवन का मिथ्यात्व है, भ्रम है। मनुष्य हवा में उड़ता रहता है, वह नहीं जानता कि उसके पंख नहीं हैं। वह कभी-भी गिर सकता है, और गिरेगा भी ऐसा कि उसका अस्तित्व ही कहीं दिखाई न देगा। इसलिए हमें स्वप्नावस्था में ऊपर उठकर यथार्थ के धरातल पर पाँव रखने ही होंगे। चलना तो इसी जमीन पर ही पड़ेगा।

मनुष्य प्रायः स्वप्न में या नींद में जीता है। उसका परिणाम यह निकलता है कि वह सत्य को जानता तो है, उसकी चर्चा भी कर लेता है, पर उसे जीवन में उतारने के नाम पर वह शून्य ही रह जाता है। यथार्थ पर चर्चा करना अलग चीज है और यथार्थ को जीवन में घटित करना अलग चीज है। तुम चर्चा और भाषण तो आत्मा पर कर लोगे, पर जिओगे देह-भाव में ही। शरीर पर थोड़ी-सी विपत्ति आयी कि तुम डांवाडोल हो जाओगे।

हम केवल भाषणों में महावीर की चर्चा कर लेते हैं और मंदिर में प्रार्थना। विगत वर्षों में महावीर और बुद्ध पर काफी कुछ बोला गया है, पर हमारे जीवन में महावीरत्व या बुद्धत्व घटित कहाँ हो सका ? प्रवचनों में हमने चर्चाएँ कीं, पर्युषण में सुना, 'महावीर के कानों में कीलें ठोकी गयीं, डंक मारे गये, वे उल्टे लटकाये गये, पर वे

समता में जीते रहे', पर हम ? एक मच्छर काट खाये तो बस, पूछो ही मत, मच्छर की खाल खींच दें। प्रति वर्ष पर्युषण में भगवान महावीर का जीवन-चरित्र सुना जाता है, लाखों के चढ़ावे बोले जाते हैं, पर हमारे जीवन-रूपांतरण की दृष्टि से ये चढ़ावे कितने सार्थक होते हैं, विचारणीय हैं। महावीर ने नहीं कहा कि तुम मेरे नाम पर चढ़ावे बोलना या मेरी प्रतिष्ठा करवाने के बहाने अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाना। महावीर को इन सबसे कोई मकसद ही नहीं है। हाँ, महावीर को मतलब है हमारे नैतिक जीवन से, अहिंसक जीवन-शैली से, हमारे उज्ज्वल जीवन से-अगर ऐसा कुछ है तो महावीर हमसे खुश होंगे।

पर्युषण में जब महावीर का जीवन-चरित्र सुनो तो यह देखो कि महावीर के जीवन में कैसे कुछ घटित हुआ। कितनी लम्बी यात्रा और संकटों को झेलते हुए बीज वटवृक्ष बना। और केवल महावीर के प्रचलित जीवन-चरित्र को ही नहीं, महावीर की अन्तस्-चेतना को बारीकी से समझने की हम कोशिश करें। अध्यात्म का कौनसा मार्ग महावीर ने वरण किया था, विशुद्धतम, आडम्बर मुक्त और आज हमने कौनसा मार्ग उसे बना दिया है, कभी तुलना करो तो लगेगा कि महावीर के साधना-मार्ग में और आज के धर्म के मार्ग में रात-दिन का फर्क हमने बना दिया है। हमने महावीर की साधना की जितनी महिमा गाई, उससे ज्यादा उनके अतिशयों की महिमा गाई है। हमारे लिए उनके अभिनिष्क्रमण का ज्यादा मूल्य नहीं है। हाँ, उनके वर्षादान की ज्यादा महिमा हमने गाई है। कभी महावीर के ध्यान की चर्चा हमने नहीं की, हमने हमेशा समवशरण की महिमा गाई। सोने-चांदी-हीरे-रत्नों की महिमा गाई। अब भला वीतरागी को इन सबसे क्या लेना-देना है ? उस साधक को हम सोने के सिंहासन पर बैठाते हैं या मिट्टी की चौकी पर, इससे उन्हें कोई सरोकार नहीं है। महावीर तो हमसे अनासक्ति की, वीतराग होने की अपेक्षा रखते हैं। राग के माहौल को वीतरागता में बदलो, महावीर की साधना की महिमा गाओ, ध्यान और अध्यात्म की चर्चा करो। सोने-चांदी-हीरे-जवाहरात-ये सब तो माया और वैभव के अंश हैं। पता नहीं, कितने सिकन्दरों के पास यह सब कुछ था।

यदि हम महावीर के बाह्य-वैभव की चर्चा करते रह गये, तो अपनी अन्तरदृष्टि के पलक नहीं खोल पायेंगे। महावीर के अन्तर्-वैभव के सामने यह बाह्य-वैभव नाकुछ के बराबर है। चूंकि हम बाह्य-वैभव में आसक्त हैं, इसलिए उस वीतराग के साथ भी हमने बाह्य-वैभव जोड़ दिया। उस वीतराग की प्रतिमा पर हम सोना-चांदी चढ़ाकर प्रसन्न होते हैं। कहते हो, 'वाह ! क्या आंगी बनी है।' बाह्य-वैभव में जीते हो इसलिए वही तुम्हें पुलकित करता है। ढूँढो, उस वैभव के भीतर छिपे वीतरागता के अपार वैभव को।

हम महावीर की अंतस्-चेतना को निहारें। कितनी दया, कितनी करुणा, कितना वात्सल्य ! ओह, इसकी तुलना में तुम किस वैभव को खड़ा करोगे ? किसी ने डंक मारा तो उसके लिए भी दूध की धारा। किसी ने पाँवों में अंगीठी जलाई तो उसके प्रति भी करुणा, किसी ने तेजो लेश्या फेंकी तो उस पर भी दया—'ओह, कोई सीमा है ऐसे व्यक्ति के अन्तर्-वैभव की !'

महावीर के जीवन को, किसी वीतराग के जीवन को सिर्फ सुनने भर तक सीमित मत रखो। सोचो, मैं भी बुद्ध हो सकता था, अरिहंत और सिद्ध हो सकता था। मैं भी दर्द-भरी इस दुनिया के लिए छाया हो सकता था। मैं

उलझा रहा जड़-पुद्गल पदार्थों में। मैं आसक्ति में सोया रहा, खोया रहा। अन्तस्-चेतना को उपलब्ध न हो पाया। मूर्च्छा और सुषुप्ति ऐसी गहरी कि जन्मों-जन्मों से भी न खुली।

महावीर ने उपवास किये, हमने भी उपवास करने शुरू कर दिये। महावीर ने किसलिए उपवास किये थे और हम किसलिए कर रहे हैं? दोनों के लक्ष्य में कितना फर्क है! वे कषाय-मुक्ति के लिए उपवास कर रहे थे, हम उपवास करके कषाय को और बढ़ावा दे रहे हैं। इच्छाओं का परिशमन करने के लिए उपवास होना चाहिये। यहाँ तो इच्छाएँ और बढ़ रही हैं। तपस्याओं में भी वैभव का प्रदर्शन करवाया जा रहा है। सब कुछ ढर्रा-सा चल रहा है।

महावीर धन को छोड़ते हैं और हम अनाप-सनाप धन इकट्ठा कर रहे हैं। महावीर अपरिग्रह के प्रतीक थे और हम परिग्रह के पर्याय बन बैठे हैं। वे सत्य के प्रतीक थे और हम असत्य को कंधे पर ढोये बैठे हैं।

जीसस कहते हैं, 'शत्रु से भी प्रेम करो' और हम मित्र से भी ईमानदारी से प्रेम नहीं करते हैं। वे कहते हैं, 'जो एक चांटा मारे उसके सामने दूसरा गाल भी कर देना, वह कमीज मांगे, तुम कोट भी उतारकर दे देना, वह एक मील बोझा पहुँचाने की मदद चाहे, तुम दो मील पहुँचा देना', पर हम सिद्धान्तों की दुहाई भर दे देंगे। करेंगे उल्टा-सुल्टा। मात्र किसी महापुरुष के अनुयायी होने से या उनके नाम से शोभायात्राएँ निकालने से, उनकी जय-जयकार करने से उन्हें पाया नहीं जा सकता।

हम महावीर के सिद्धान्तों के बिल्कुल विपरीत चलते हैं। मात्र उनके गुणगान करके हम अगर संतुष्ट हो रहे हैं कि हम तो जैन हो गये तो जैनत्व इतना सस्ता नहीं है। अब छोड़ो इस भ्रम को कि मैं तो जैनी हो गया। दुबारा शुरुआत करें। अब तक तो जो समझा, वह आरोपित था। धार्मिकता तिलक और मुँहपत्ति में मे ही रूँधी न रहे। वह हमारे व्यावहारिक जीवन में भी चरितार्थ हो। अन्यथा भ्रम के मायाजाल में, अहं के मायाजाल में ही डूबे रह जाएँगे।

मैं देखता हूँ कि लोग अहंकार में अपने आगे किसी को कुछ नहीं समझते। अहम् के चलते वे अपनी झूठी शान बघारते हैं, भले ही भीतर से वे खोखले हो रहे हों। यही होता रहा है। कई ऐसे राजा हुए जिन्होंने राजपाट चले जाने के बावजूद अपनी अकड़ को नहीं छोड़ा। वे अपनी अकड़ में ही रहे, तो इसका नतीजा भी उन्होंने भुगता। आदमी को यही ध्यान नहीं रहता कि सब दिन एक समान नहीं रहते। घड़ी में १२ अंक होते हैं। आपने कभी घड़ी की सुइयों को किसी एक अंक पर स्थिर देखा है क्या? वे स्थिर रह ही नहीं सकतीं, क्योंकि समय कभी रुकता नहीं है। वह सतत् प्रवाहमान रहता है। जब समय रुकता नहीं तो आप क्यों एक जगह रुके हुए हैं? आपने नहीं सुना 'बहता पानी निर्मला', जो पानी बहता है वही निर्मल कहलाता है। जहाँ पानी ठहरा, उसका नाम पोखर हो गया और उसका पानी सड़ गया। एक व्यक्ति या परिवार में मूर्च्छित मत रहो, स्वयं को विराट् करो, अपनी दृष्टि को क्षितिज के पार ले जाओ। अपने जीवन को रोको मत, प्रवाहमान रखो। अहम् को छोड़ो, अन्यथा एक दिन ऐसा आएगा कि आप अकेले रह जाएँगे और वह अकेलापन आपको कहीं का न रखेगा।

एक किसान बहुत घमण्डी था। किसी के घर में मौत होती तो वह घोड़े पर चढ़कर उसके घर जाता। सभी

लोग तो अर्थी को कंधा देते चलते, मगर वह बड़ी शान के साथ घोड़े के ऊपर चलता। लोगों को बहुत बुरा लगता, मगर करें क्या ? ऐसे मौके पर कोई कुछ कह भी तो नहीं सकता था।

एक दिन ऐसा भी आया कि लोगों को उसे सबक सिखाने का मौका मिल गया। हुआ यूं कि उसकी माँ का देहावसान हो गया। गाँव के लोगों को पता चला तो उन्होंने उसे ठीक करने की सोची। सबने सलाह-मशविरा किया और उस समय तो वह किसान हैरान रह गया कि गाँव के लोग एक-एक कर घोड़ियों पर बैठकर उसके घर आने लगे थे। कुछ ही देर में वहाँ घोड़ियाँ ही घोड़ियाँ हो गईं। वह किसान परेशान। उसके घर में उसकी माँ और वह दो ही सदस्य थे। कहीं कोई रिश्तेदार तक नहीं था।

अर्थी को उठाने का वक्त हो गया, मगर उठाए कौन ? गाँव के लोग तो घोड़ियों पर बैठे थे। उस किसान को अक्ल आ गई। उसने सबसे माफी मांगी और कहा कि आगे से वह अपना व्यवहार बदल लेगा, अभी तो अर्थी उठाओ।

यही होता है, जब आदमी के ऊपर आती है, तब उसे दूसरों का दुःख समझ में आता है। इसलिए अपना जीवन सार्थक कर लो। अब भी समय है, चेत जाओ। न जाने फिर ऐसा अवसर हाथ आए, न आए और तुम पछताते रह जाओ।

आदमी को जीने के लिए दो-चार जीवन नहीं मिलते। न जाने कितने-कितने पुण्य कृत्यों के फलस्वरूप मनुष्य-जीवन प्राप्त होता है। हमारे शास्त्र कहते हैं कि चौरासी लाख योनि हैं। उनमें भटकना पड़ता है। इतनी योनि भटककर पाया गया जीवन अधिकांश मनुष्य यूँ ही गँवा देते हैं। यह तो स्वर्णिम अवसर है, जिसका लाभ उठाकर हम मोक्ष के मार्ग पर कदम बढ़ा सकते हैं। मैं यह नहीं कहता कि सब साधु संन्यासी बन जाओ। संसार में रहते हैं तो कर्म तो करने ही पड़ते हैं और करने भी चाहिए, लेकिन ऐसा भी न हो कि केवल खाने, पीने, सोने में ही हमारा जीवन पूरा हो जाए।

हमने शास्त्रों में पढ़ा है कि पहले लोग सौ या उससे भी ज्यादा वर्ष तक जीते थे, मगर धीरे-धीरे ऐसा होने लगा कि आदमी का जीवन-समय घटता गया। आज तो हालत यह है कि कुछ पता ही नहीं चलता, आदमी कच्ची उम्र में ही संसार छोड़ जाता है। इसके पीछे कई कारण हैं। आदमी खुद इसके लिए जिम्मेदार है। उसकी बढ़ती हुई आकांक्षाओं के कारण कई विषमताएं उत्पन्न हो गई हैं और इसी से उसकी समस्याएँ बढ़ी हैं।

इस नश्वर संसार में स्वयं को छोड़कर अन्य क्या अनश्वर है ? सब कुछ क्षणभंगुर हो रहा है। पता नहीं, कितने सिकन्दर आये हैं इस धरती पर और अखूत धन के स्वामी होकर भी खाली हाथ ही गये हैं। आयुष् की डोर टूट जाने के बाद उसे कौन सांध पाया है ? सिकन्दर जब मृत्यु के निकट था और स्वयं को बचाने की सारी कोशिशें निष्फल हो चुकी थीं, तो उसकी रूह काँप उठी। सिकन्दर ने अपने अंतिम फरमान में कहा था कि मेरी मृत्यु के बाद मेरी सारी सम्पत्ति कब्रिस्तान में लायी जाये ताकि लोग देख सकें कि, जिस सिकन्दर ने अपने बलबूते पर अपार वैभव पाया था, वह उसे भोग भी न पाया और उससे बच भी न पाया। मेरी अंतिम यात्रा में, मेरे जनाजे के आगे मेरी सारी सैन्य-शक्ति रहे और इन वैद्यों के कंधे पर ही मेरा जनाजा उठाया जाये, ताकि विश्व

यह समझ सके कि धनवैभव और दवा भी मनुष्य को मौत से नहीं बचा सकते ।

तुम्हारी आयुष्य की डोर कब टूट जाये, कोई पता नहीं है । उस डोली को उठाने का कोई मुहूर्त नहीं निकाला जायेगा ।

जब तेरी डोली उठा ली जायेगी, बिन मुहूरत के उठा ली जायेगी ।

हे मुसाफिर, क्यों पसरता है यहाँ, ये किराये से मिला तुझको मकां,  
कोटड़ी खाली करा ली जायेगी ।

इन हकीमों से यह पूछो बोलकर, करते थे दवा किताबें खोलकर,  
यह दवा हरगिज न खाली जायेगी ।

बल सिकंदर का यहीं पर रह गया, मरते दम लूटमार फिर यूँ कह गया,  
वह घड़ी हरगिज न टाली जायेगी ।

अतीत अगर खो गया है, तो उसे विस्मृत करें और वर्तमान और भविष्य को उज्ज्वल बनाने का संकल्प करें । सारी जिन्दगी सुषुप्ति और बेहोशी में बीत गयी है, अब होश को सन्हालें । तुम्हारी ऊर्जा, जिससे तुम सार्थक कृत्य कर सकते थे, निरर्थक बह रही है । मनुष्य इस सृष्टि पर पूर्ण इकाई नहीं है । वह पशु और प्रभु के बीच की कड़ी है । वह अपने जीवन को महावीर का रूप भी दे सकता है और जीवन का महाविनाश भी कर सकता है । पाप और पवित्रता उसके जीवन के दो विकल्प हैं और उन्हें चुनने के लिए वह स्वतन्त्र है । अपने जीवन की दिशा का निर्धारण हमें करना है ।

ऊर्जा तो प्रवाहमान है । उसे बाँधा न जा सकेगा । या तो वह बहेगी या ऊर्ध्वगामी होगी । अगर उस ऊर्जा को कृष्ण का मार्ग न दिया गया, तो वह कंस का मार्ग पकड़ लेगी; राम का मार्ग न दिया, तो रावण के मार्ग पर चलेगी । ऊर्जा विध्वंसात्मक रुख तभी अपनाती है, जब उसे सृजन का मार्ग न दिया जाये ।

निश्चित रूप से विज्ञान का जन्म भी ऊर्जा के सार्थक उपयोग के लिए ही हुआ होगा, पर हम उसका कितना सार्थक उपयोग करते हैं यह तो हम ही जानें । जिनका निर्माण विश्व की रक्षा के लिए हुआ था, उनका प्रयोग हम विश्व के विध्वंस के लिए करने की सोच रहे हैं ।

हमारी आणविक क्षमता इतनी अधिक बढ़ गयी है कि जिसकी कोई हद नहीं । मुझे तो लगता है कि प्रलय के लिए शिव को तीसरे नेत्र के उद्घाटन की आवश्यकता ही नहीं होगी । मनुष्य स्वयं ही इस धरती पर प्रलय मचायेगा । मनुष्य का विनाश मनुष्य ही करेगा । कहते हैं कि सौ डिग्री पर पानी भाप बन जाता है और पच्चीस सौ डिग्री पर लोहा पिघलकर भाप बन जाता है । क्या आपको पता है कि एक हाइड्रोजन बम दस करोड़ डिग्री गर्मी पैदा कर सकता है । पूरे संसार के विनाश के लिए ऐसे सौ बम ही काफी हैं और विश्व में ऐसे हजारों बम बन चुके हैं । शस्त्रास्त्रों की होड़ में विश्व में इतने बमों का निर्माण हो चुका है कि एक बार नहीं सात-सात बार विश्व का विनाश हो सकता है । एक अनुमान के अनुसार विश्व में पचास करोड़ डॉलर प्रति घंटा विनाशक अस्त्रों के



निर्माण और संरक्षण में खर्च हो रहा है। यानि प्रतिदिन बारह अरब डॉलर ! इतनी राशि अगर मनुष्य के कल्याण के लिए खर्च की जाती, तो विश्व का रूप आज और ही कुछ होता।

विक्षिप्तता आज हमें चारों ओर से घेरती जा रही है। हमारी महत्वाकांक्षाएँ बेलगाम होती जा रही हैं और परिणामतः हमारे अपने प्रबंधन ही हमारी मृत्यु के निमित्त बन रहे हैं। सुरक्षा के नाम पर विश्व मृत्यु के करीब पहुँच रहा है। मात्र अहिंसा पर दिये गये भाषण इस विक्षिप्तता को नहीं तोड़ सकते हैं। जब तक भीतर के पशु को विनष्ट कर प्रभुता को उपलब्ध नहीं कर लिया जाता है, तब तक विनाश की योजनाएँ चलती ही रहेंगी।

कहते हैं, एक बार भगवान ने अमेरिका, रूस और ब्रिटेन के प्रतिनिधि बुलवाए। उन्हें कहा कि 'तुम्हारे देशों ने विश्व में सर्वाधिक प्रगति की है। मैं तुम तीनों के विकास से प्रसन्न हूँ। तुम्हारी जो इच्छा हो एक-एक वरदान मांग सकते हो।'

अमेरिका का प्रतिनिधि बोला, 'हे ईश्वर ! मैं आपसे यह वरदान माँगता हूँ कि यह सारी धरती रहे, पर रूस का नामोनिशान न रहे। इसे समाप्त कर दिया जाये।'

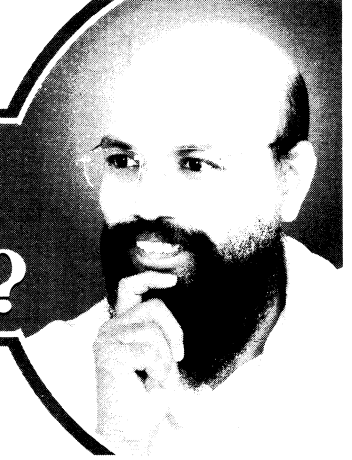
ईश्वर ने रूस के प्रतिनिधि की ओर देखा। उसने कहा, 'मैं आपसे वरदान माँगता हूँ कि यह सारी धरती रहे, पर अमेरिका का नामोनिशान न रहे।'

ईश्वर ने फिर ब्रिटेन के प्रतिनिधि की ओर देखा। उसने कहा, 'भगवान ! मेरी कोई खास इच्छा नहीं है। बस आप इन दोनों की इच्छा-पूर्ति कर दीजिये, ब्रिटेन के लिए यही वरदान होगा।'

देखी मनुष्य की चालाकी ! वह एक-दूसरे का विनाश चाहता है, दूसरा पहले का विनाश चाहता है। तीसरा दोनों का। सब एक-दूसरे के विनाश में लगे हैं। विनाश की लीला बहुत हो गयी। जीवन के विकास की लीला भी रचाने की चेष्टा हो। ज्ञान-विज्ञान का सार्थक उपयोग करो। आज तुम किसी और को मिटा डालोगे, कल कोई तुम्हें मिटा जाएगा। मिटने का ही सिलसिला चलता रहेगा। सृजन हो, सार्थक पहलुओं पर हमारा दृष्टिकोण हो। अज्ञान और मूर्च्छा से बाहर निकलकर आओ। जीवन का हर कदम सार्थक हो, ज्योत से ज्योत जगाओ। तमस् चाहे अपना हो या पराया, तमस् मिटे, ज्योत जगे, तो ही कोई बात बने।

मेरा तो एक ही संदेश है कि मूर्च्छा तोड़ो, समर्पित भाव से कर्म करो, अनासक्ति से जीओ। इस संदेश का सदा स्मरण रखो, बोध रखो। फिर कोई खतरा नहीं है। तुम खुद प्रखर हो उठोगे। 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' - तुम कर्म करो, सत्कर्म ! फल अपने आप तुम्हारे हाथ में होगा।

# तृष्णा: कब मिलेगा किनारा?



कौशाम्बी का ब्राह्मण कपिल, शास्त्रों का अध्ययन करने अपने दिवंगत पिता के मित्र राजगुरु इन्द्रदत्त के पास श्रावस्ती पहुँचा। कपिल की विधवा माँ का आग्रह था कि कपिल राजगुरु इन्द्रदत्त के सान्निध्य में विद्या-अध्ययन करे। इन्द्रदत्त ने कपिल के भोजन की व्यवस्था श्रेष्ठि शालिभद्र के यहाँ की। शालिभद्र ने अपनी एक दासी को इस काम के लिए नियुक्त कर दिया।

दिन-माह और वर्ष बीते। कपिल को दासी से और दासी को कपिल से कब प्रेम हो गया, दोनों को पता ही न चला। कपिल शास्त्रों का अध्ययन करने श्रावस्ती आया था, मगर करने लगा प्रेम की पढ़ाई। एक दिन श्रावस्ती में नगर-महोत्सव का आयोजन होने वाला था। उस दासी ने कपिल से कहा कि 'हम दोनों कुछ ही दिनों में पति-पत्नी होने वाले हैं। कल नगर महोत्सव है। सभी महिलाएँ गहने पहनेंगी। तुम भी मुझे कुछ लाकर दो।'

कपिल पशोपेश में पड़ गया। उसके पास तो फूटी कौड़ी तक न थी। वह इन्द्रदत्त के यहाँ पढ़ता था और शालिभद्र के यहाँ भोजन करता था। आय का तो कोई जरिया ही न था। उसने अपनी स्थिति स्पष्ट की तो दासी ने उसे रास्ता बताया कि 'यहाँ का नगर सेठ प्रतिदिन सुबह जिस ब्राह्मण की प्रथम सूरत देखता है, उसे दो माशा सोना देता है। तुम भी चले जाओ। सुबह सबसे पहले उसके द्वार पर पहुँच जाओ। वह सोना मेरे काम आ जाएगा।'

असमंजस से भरा कपिल सोचने लगा कि कहीं ऐसा न हो कि सुबह हो उससे पहले ही कोई और ब्राह्मण वहाँ पहुँच जाए। वह रात्रि में ही वहाँ जाने के लिए तैयार हो गया। मध्य रात्रि में ही जब वह नगर सेठ की हवेली

की तरफ जा रहा था, तो राजसैनिकों ने उसे देखा और पकड़ लिया। उसे अगले दिन सुबह राजा के दरबार में पेश किया गया। उससे पूछा गया कि वह आधी रात को नगर में क्यों घूम रहा था, तो उसने सच्ची बात बता दी।

राजा उसकी सच्चाई और प्रामाणिकता से बड़ा प्रभावित हुआ। उसने कहा कि 'तुम राजा के सामने खड़े हो, जो चाहो मांग लो, तुम्हें निराश नहीं लौटाया जाएगा।' कपिल हैरान! वह एकाएक सोच नहीं पाया कि क्या माँगे? उसने राजा से पांच मिनट का समय मांगा और दरबार में एक तरफ जाकर विचार करने लगा कि क्या मांगा जाए।

अब कपिल के मन में तरंगें उठने लगीं। उसने सोचा कि दो माशा सोना क्या मांगूं, यह तो बहुत कम है। आगे भी धन की जरूरत पड़ेगी। ऐसा करता हूँ दो सोनैया मांग लेता हूँ। नहीं, यह भी कम रहेंगे। मैं सौ सोनैया मांग लूँ। उसे यह भी कम लगे। सोचते-सोचते वह एक लाख सोनैया तक पहुँच गया, मगर तय नहीं कर पाया। अंत में वह इस निर्णय पर पहुँचा कि जब उसने वचन दे ही दिया है, तो क्यों नहीं राजा से उसका राज्य ही मांग लूँ, वह खुद ही तो दे रहा है।

समय पूरा हुआ देख, राजा ने कहा, 'ब्राह्मण! इतना समय क्यों?' ब्राह्मण शब्द सुनते ही अचानक उसकी अन्तश्चेतना जागृत हुई कि कपिल! तू यह क्या कर रहा है? जिस राजा ने तुम्हें मुंह मांगा देने का वचन दिया, क्या तू उससे उसका पूरा राज्य ही छीन लेगा? तू आया था महज दो माशे सोने के लिए और....। वह राजा के सामने कुछ बोल न पाया। उसके सामने उसकी इच्छाएँ ही प्रश्नचिह्न बनकर खड़ी हो गयीं। उसकी चेतना में एक हूक उठी। क्या मनुष्य की इच्छाओं का कोई अन्त है? क्या राजा का राज्य पाकर तेरी इच्छा शांत हो जायेगी। नहीं, कपिल! नहीं!! उसकी नजरें नीचे झुक गयीं और वह कुछ बोल न पाया।

राजा ने कपिल को पुनः सम्बोधित किया तो कपिल बोला, 'राजन्! ब्राह्मण क्षमाप्रार्थी है। मैं आया था, तो दो माशा सोने की आस थी, पर मन की चंचलता तो देखिये, कामनाओं का मकड़जाल भी कितना विचित्र है! मैं दो माशा सोने से बढ़ते-बढ़ते लाखों सोनैया मांग लेने की इच्छा करने लगा, और अन्ततः तो राजन्! आपका राज्य भी! पर ब्राह्मण शब्द सुनते ही अन्तरमन ने ऐसी करवट बदली कि..... अब मुझे कुछ नहीं चाहिये। मेरी आत्मा जाग उठी है। कपिल अब ब्रह्मज्ञान की साधना के लिए जंगलों में जाएगा। जाते-जाते इतना ही कहूँगा-इच्छाएँ असीम-अपूर्ण हैं। मन के प्रति सजगता हो, तो ही वे तिरोहित हो सकती हैं। और कपिल जंगल की ओर रवाना हो गया।

राज-दरबार में खड़ा हर व्यक्ति स्तब्ध रह गया। कपिल उन्हें गंभीर विचार के लिए एक बिन्दु दे गया था।

मनुष्य की अन्तश्चेतना कितनी सुषुप्त रहती है? कहाँ दो माशा सोने की चाह और कहाँ पूरा राज्य लेने की इच्छा? मनुष्य की यह तृष्णा वृत्ति समाप्त नहीं होती। जब तक ऐसा नहीं होता, आदमी अध्यात्म के मार्ग पर कदम नहीं बढ़ा सकता। जब तक उसके तृष्णा के तार नहीं टूटेंगे, यही होता रहेगा। आदमी सोता रहेगा, जाग नहीं सकेगा। जिस व्यक्ति ने अपने मन की अनर्गलता को पहचान लिया, समझ लिया, वही धर्म के मर्म को पहचान पाएगा।

छोटी-सी जिंदगी में इतने लम्बे-चौड़े अरमान मनुष्य बना लेता है कि उसकी पूरी जिंदगी अरमानों को पूरा करने में पूरी हो जाती है, पर अरमान ! उनमें शायद बढ़ोतरी ही होती है ।

इंसान को कैलास पर्वत जैसे सोने के असंख्य पर्वत भी दे दिए जाएँ, फिर भी उसकी तृष्णा समाप्त नहीं होगी । उसकी तृष्णा और बढ़ेगी । इच्छाएँ आकाश की तरह अनंत हैं । आकाश का तो फिर कोई ओर-छोर हो भी शायद, लेकिन इच्छाओं का कोई ओर-छोर नहीं होता । जीवन पल-पल खाली हो रहा है, मगर आदमी नहीं सँभलता, उसकी इच्छाएँ और फैल रही हैं । जरा देखो, पेड़ पर आज हरे पत्ते नजर आते हैं, कुछ दिन बाद ये पत्ते पीले हो जाएँगे और एक दिन जमीन पर आ गिरेंगे । क्या इन्हें कोई रोक पाएगा ?

जीवन का रहस्य ऐसा ही है । आदमी इसे सुलझा नहीं पाता । कोई पत्ता हमेशा हरा नहीं रहता । एक-न-एक दिन तो उसे पीला पड़कर पेड़ से नीचे गिरना ही होगा । तभी तो नए पत्ते आएँगे और जीवन का चक्र चलेगा । दुनिया में कोई यदि यह कहे कि दुनिया में कोई काम असंभव नहीं है, उसके लिए जवाब मेरे पास है । दुनिया में मृत्यु से बचना असंभव काम है । जीवन की नदिया को सूखने से बचाना असंभव है । यह तो सूखेगी, तभी नया पानी आएगा ।

सूर्य उदय होता है । यह हमारा जन्म है । सुबह हमारा बचपन, दोपहर जवानी, सांझ बुढ़ापा और रात्रि जीवन की समाप्ति । यह सब जानते-बूझते हुए भी मनुष्य जगत् की कहानी नहीं समझता, अध्यात्म को अपने जीवन में नहीं उतार पाता । उसकी बाह्य-संसार की तृष्णाएँ बढ़ती जाती हैं । आदमी को जो मिल रहा है, उससे उसे संतोष नहीं है । वह और पाना चाहता है ।

मनुष्य की असीम आकांक्षाओं के चलते जिंदगी, जो आनंद और उल्लासपूर्ण होनी चाहिये, वह संघर्ष और प्रतिस्पर्धापूर्ण हो गयी है । जीवन वैसा ही बनता है, जैसा हम उसे बनाते हैं । हम अपने जीवन को आनन्दित भी कर सकते हैं और दलदल में ले जाकर फँसा भी सकते हैं । एक अनगढ़ पत्थर, चाहो तो उससे किसी का सिर फोड़ सकते हो और चाहो तो इसी पत्थर से प्रतिमा भी गढ़ सकते हो । एक कोरी किताब की तरह है जिन्दगी ! इसमें गीत भी लिख सकते हो और गालियाँ भी । और यह परम सत्य है कि जो व्यक्ति लोभ में जीता है, आकांक्षा और तृष्णा में जीता है, उसकी जिन्दगी एक प्रतिस्पर्धा बन जाती है । एक ऐसा प्रतिस्पर्धा, जिसमें हर विजय के बावजूद पराजय ही है । अपनी बेलगाम तृष्णाओं के चलते दौड़ेंगे बहुत, लेकिन पहुँचेंगे कहीं नहीं । जीवन महज एक संघर्ष बनकर रह जाएगा, जिसमें सिवाय तिल-तिल जलने के और कुछ न बचेगा ।

क्या आपको पता है कि प्रकृति कभी भी मनुष्य को दुःखी नहीं करती है, दुखी करती है उसकी असीम लालसाएँ । पता नहीं, हमारे भीतर दिन-प्रतिदिन कितने अरमान उपजते हैं । एक को पूरा करें, तब तक न जाने कितने अन्य उपज जाते हैं । हमारी इन्हीं इच्छाओं के चलते ईर्ष्या पैदा होती है । दिखने में भले ही हमारे परिचितों के साथ दोस्ती चल रही हो, पर मन ही मन तो ईर्ष्या, प्रतिस्पर्धा का दावानल जलता है । मित्रता तो मानो औपचारिकता भर रह जाती है । दोस्त की नई कार को देखकर कहने में भले ही खुशी व्यक्त कर दी जाये, पर भीतर ? भीतर शायद ईर्ष्या की एक और चिंगारी ही पैदा होती है । और ऐसी अब तक अनेक चिंगारियाँ हमारे

भीतर जल उठी हैं कि जीवन की कोई सुखद अर्थवत्ता ही शेष नहीं बची है ।

एक बात हमेशा ध्यान में रखें कि इस दुनिया में वे ही लोग कुछ पा सकते हैं, जो निर्लोभी हैं । धन का संचय करके भविष्य में सुख पा सकोगे या नहीं, पर उपयोग करके आज तो सुख पा सकते हो । कहते हैं, सिकन्दर ने काफी उम्र पायी थी । जितनी उम्र पायी उससे हजार गुनी इच्छाएँ पायी होंगी । सिकन्दर जब विश्व-विजय के अभियान पर था तो संत डायोजनीज ने उससे पूछा—‘सिकन्दर, तुम सारे संसार को जीतकर क्या करोगे ?’ सिकन्दर ने कहा, ‘आराम की रोटी खाऊँगा ।’ डायोजनीज ने मुस्कराकर कहा, ‘रोटी की कमी तो आज भी तुम्हारे लिए नहीं है । हाँ, जितनी आराम से रोटी तुम आज खा पाओगे, जितनी चैन की नींद आज सो सकते हो, उतनी चैन की नींद तब नहीं सो पाओगे ।’

जीवन-विस्तार के नाम पर जितने आकांक्षाओं में डूबोगे, जीवन उतना ही हाथ से छिटकता जायेगा । इसलिए जो अनायास मिल रहा है, उसे सप्रेम स्वीकार करो । आज जितनी तुम्हारी व्यवस्था है उसे अपनाओ । जिसने आज की व्यवस्था की, वह कल के आने पर कल की भी व्यवस्था स्वतः कर देगा ।

जब अनमोल जीवन मिला है, तो फिर जड़ पदार्थों को पाने में उसका दुरुपयोग क्यों कर रहे हो ? तुम्हें प्रकृति से एक सुन्दर तन मिला है । धन-सम्पत्ति और पद-प्रतिष्ठा की मूल्यवत्ता आखिर कितनी ! क्या जीवन से भी ज्यादा मूल्यवान हैं वे सब, जो इनके पीछे जीवन गँवा रहे हो । अगर सारी दुनिया का साम्राज्य तुम्हारे अधिकार में है तो उसे एक ओर तराजू पर रखकर दूसरी ओर अपने जीवन को रख दो । सारा संसार का साम्राज्य भी शायद जीवन की बराबरी नहीं कर पायेगा । मृत्यु के समय सिकन्दर अपने जीवन को कुछ वक्त के लिए और बढ़ाना चाहता था और उसने उसके लिए अपना पूरा साम्राज्य देने तक की घोषणा कर दी, पर क्या उसका वह अपार साम्राज्य उसे और अधिक जीवन दे पाया ? जीवन के सामने साम्राज्य को मात खानी पड़ी । आखिर क्या काम का वह अपार वैभव भी जो हमारी सांध्य वेला में हमारे सामने ही प्रश्नचिह्न बनकर खड़ा हो जाये । आखिर यह सब कुछ किसलिए है ? अपने बाह्य वैभव को बढ़ाने की बजाय भीतर के वैभव पर नजर डालो । कहीं ऐसा तो नहीं है कि तुम बाहर सब कुछ पाते जा रहे हो, जो नश्वर है और भीतर का वह सब कुछ खोते जा रहे हो जो अनश्वर है । अनश्वर को खोकर अगर नश्वर कुछ पा भी लिया तो क्या पाया ? अब अपने मन पर अंकुश डालो । नियन्त्रण करो स्वयं पर । इच्छाओं को सीमाओं का पाठ पढ़ाओ । बहुत पा लिये जो पाना था । अब इसीमें थोड़े ही रहे रहेंगे । जीवन में इसके अतिरिक्त भी कुछ और है ।

सब तुम पर निर्भर है । जीवन को जैसा चाहो, मोड़ सकते हो । दुनिया की आपाधापी में भी जीवन को झोंक सकते हो और प्रकृति के सहारे भी छोड़ सकते हो । बाहर में जो टटोलने की वृत्ति बनी हुई है, उसे अन्तर्मुखी बना लो । बाहर की तलाश अन्तहीन है और उसमें शायद ही ऐसा कुछ मिल पाये, जिसे जीवन की उपलब्धि कह सको । पर अगर भीतर को उपलब्ध हो गये, जिसने स्वयं के अस्तित्व का बोध पा लिया, वह सबके साथ एकमेक हो जाता है । संसार को पाने की लालसा उसके भीतर नहीं पलती वरन् सारा संसार ही उसका हो जाता है । ‘वसुधैव कुटुम्बकम्’, पृथ्वी ही उसका परिवार बन जाती है ।

अगर जीवन को सहज रूप से स्वीकार नहीं करोगे, तो सब कुछ पाकर भी कुछ न पा सकोगे। 'जो मिला, जैसा मिला, अच्छा मिला, इसमें भला, कैसा गिला !'

यह संसार तो इतना विचित्र है कि यहाँ सब कुछ पाकर भी कुछ हाथ नहीं लगेगा। यहाँ जीतकर भी जीत कहाँ पाओगे ! जीत भी हार की सीढियाँ बन जाएँगी। लेकिन अगर जीतने की तमन्ना ही खत्म हो गयी, तो फिर कभी हार नहीं पाओगे। हार की संभावना तभी तक है जब तक विजय की तमन्ना है।

कहते हैं, लाओत्से एक बात सभी को कहा करते थे कि मुझे कोई हरा नहीं सकता। एक पहलवान ने भी यह बात सुनी। वह थोड़ा हैरान हुआ। 'लाओत्से शरीर से इतने बलिष्ठ तो नहीं हैं, फिर ऐसी बात कैसे कह रहे हैं ?' वह लाओत्से के पास गया और कहा, 'लाओत्से ! तुम कहते हो कि मुझे कोई हरा नहीं सकता, पर तुम्हारे शरीर को देखकर तो ऐसा लगता है कि हर कोई हरा देगा तुम्हें। और अगर मैं चाहूँ तो तुम्हें चित करने में मुझे दो पल भी न लगेंगे।'

लाओत्से हँसे और बोले, 'मैं तुमसे अब भी कहता हूँ कि मुझे कोई हरा नहीं सकता। तुम भी हरा नहीं पाओगे। हारेगा वह, जिसके मन में जीतने की इच्छा है। तुम मुझे चित करोगे उसके पहले मैं खुद ही चित हो जाऊँगा। मैं पहले से ही हारा हूँ, तुम मुझे क्या हराओगे ! 'चाह गई चिन्ता मिटी मनुवा बेपरवाह।'

जिसकी चाह मिट गई, वह तो शहंशाह है। जो यह सोचते हैं कि चाह पूरी करने से चाहें अथवा आकांक्षाएँ मिट जाएँगी, वे भ्रमित हैं।

खेद वहाँ होता है जहाँ आकांक्षाओं की पूर्ति न हो। जब आकांक्षाएँ ही नहीं जन्मेंगी तो खेद कहाँ होगा ? यह हमारी भ्रान्ति है कि सब पा लेने से तृप्ति आ जायेगी। अगर पूरे विश्व का साम्राज्य भी तुम्हें मिल जाये तो भी कुछ और पाने की लालसा शेष बचेगी। दिखने में तो आकाश जमीन से छूता हुआ मालूम होता है पर क्या वह उसे छू पाता है ? दिखने में तो ऐसा लगता है कि पर्वत के पीछे आकाश का अन्त है, पर ऐसे एक नहीं अनन्त क्षितिज पार कर लेना पर क्षितिजों का अन्त न पा सकोगे। वर्तुलाकार है क्षितिज और हमारी वासनाएँ भी वर्तुलाकार ही हैं। और जिसे हम पाना चाहते हैं, जहाँ जाना चाहते हैं, उससे आगे भी और लोग गये हुए हैं। उनसे जरा पूछो उनके जीवन की आपाधापी की कहानी, अन्तरमन की समस्याएँ। वे तुम जैसी ही हैं, शायद तुमसे भी ज्यादा।

जब सारी दुनिया दौड़ रही है तो हमें समझ लेना चाहिये कि जिनमें थोड़ा भी विवेक है कि आकाश कभी पृथ्वी को छूता नहीं है। वे यह भी जान लें कि वासना कभी तृप्त नहीं होती।

प्रबल इच्छाओं के चलते व्यक्ति प्राप्त का उपयोग नहीं कर पाता और जो प्राप्त नहीं हुआ, उसकी चिन्ता में दुःखी बना रहता है। एक आदमी ने इस वर्ष पांच लाख रुपये कमाए तो उसे इसकी खुशी नहीं है। उसे गम इस बात का है कि पिछले वर्ष तो दस लाख कमाए थे किन्तु इस बार पांच लाख ही कमा सका। जीवन में मनुष्य कई तरह की एषणाओं-इच्छाओं की पूर्ति में लगा रहता है। उनमें पद, पूंजी और प्रतिष्ठा की एषणाएँ गजब की हैं। इन्हें प्राप्त करने की आपाधापी में उसका जीवन समाप्त हो जाता है। आदमी पद की चाह के लिए क्या-क्या नहीं

करता ?

पद और प्रतिष्ठा पाने के चक्कर में हमारा अपना जीवन घनचक्कर बना जा रहा है। फिर राजनीति..... ! पद की राजनीति ! ओप्फो ! पूछो ही मत। बड़ा छिछलापान है इस राजनीति में तो ! संकल्प भले ही हम राष्ट्र-सेवा का दुहराएँ, लेकिन शायद ही किसी नेता का आचार-व्यवहार ऐसा बोलता हो। देश कितना सुरक्षित है, इसकी उन्हें चिंता नहीं। हाँ, अपनी कुर्सी कितनी सुरक्षित है, इसकी चिंता सताए जा रही है। हमारी संस्कृति के विकास की किसको परवाह है ? सब अपनी जेबों को भरने में लगे हैं। समाज और देश के कल्याण की बातें करने वाले कुछ लोग सिवाय स्वार्थी गोरखधंधे के और कुछ नहीं करते।

नेता पर ही तो सारी व्यवस्था के दायित्व होते हैं। नेता को तो ऐसा नेतृत्व प्रदान करना चाहिये, जिस पर समाज और देश गौरव कर सके। वह देश को, समाज को खुशहाल बना सके तथा उन्हें समृद्धि की नई दिशाएँ दिखा सके।

पद पाने की लालसा अब तो समाज में भी इतनी बढ़ गयी है कि धार्मिक या सामाजिक संस्थाओं में भी चुनावों में खड़े होने की होड़ लगी रहती है। समाज के ये नेता अपनी अहम्-पूर्ति के लिए, अपने पद को बचाने के लिए समाज के दो टुकड़े करने में भी नहीं चूकते। लोग बताते हैं कि अभी दो वर्ष पूर्व एक शहर में किसी सामाजिक संस्था के अध्यक्ष पद को लेकर चुनाव हुए और इस चुनाव में प्रतिष्ठा का ऐसा अहम मुद्दा बन गया कि पैसा पानी की तरह बहाया गया। एक अनुमान के अनुसार उसमें पचास लाख से भी ज्यादा का खर्च हुआ और समाज के दो टुकड़े हो गये।

पद और प्रतिष्ठा पाने के पीछे अगर धर्म और समाज में कोई विभेद पैदा होता है, तो वह पद त्याज्य है। हमें अपने जीवन को छिछली राजनीति का मुखौटा नहीं पहनाना है। अन्यथा कुर्सी पाने के चक्कर में तुम अपने सारे जीवन-मूल्य गिरा बैठोगे।

ऐसा हुआ, एक बार दो नेता पानी के जहाज पर यात्रा कर रहे थे। जहाज में करीब ४०० यात्री और भी थे। एक दिन अचानक जहाज हिलने लगा। सभी परेशान ! नाविकों ने देखा कि एक बड़ा-सा मगरमच्छ जहाज को नीचे से धक्का मार रहा है। वह संभवतः भूखा होगा, लेकिन जहाज में इतना भोजन नहीं था कि उसे मगरमच्छ को डाला जा सके। एकाएक किसी यात्री को न जाने क्या सूझी ! उसने जहाज के डेक पर पड़ी एक कुर्सी समुद्र में फेंक दी। मगरमच्छ उस कुर्सी को साबूत ही निगल गया। इसके बावजूद उसका जहाज को धक्का मारने का क्रम जारी रहा। जहाज में दो नेता भी सवार थे। लोगों ने सोचा ये हमेशा सेवा के लिए सब कुछ न्यौछावर करने की बात करते हैं। आज इन्हें 'मौका' दिया जाये। उन्होंने एक नेता को समुद्र में फेंक दिया। मगरमच्छ उसे साबूत ही निगल गया। मगर उसकी हलचल बंद न हुई। जहाज के यात्रियों ने दूसरे नेता को भी समुद्र में फेंक दिया। पता नहीं, उन दो नेताओं को खाकर मगरमच्छ क्यों शांत हो गया ?

इधर मल्लाहों ने जाल डालकर उस मगरमच्छ को पकड़ लिया। उसे खींचकर जहाज के डेक पर लाया गया। मल्लाहों ने यह सोचकर कि संभव है इसके पेट में दोनों में से कोई जीवित हो। उन्होंने मगरमच्छ का पेट

काटा। और जब मगरमच्छ का पेट काटा गया, तो वहाँ खड़े लोगों ने दाँतों तले अंगुलियाँ दबा लीं। उन्होंने देखा कि दोनों नेता जीवित थे और आपस में गुत्थम-गुत्थी कर रहे थे, क्योंकि वहाँ नेता दो थे और कुर्सी एक थी।

कुर्सी एक और नेता दो, तो यही होना था। पद की लोलुपता ऐसी ही होती है। मनुष्य की वृत्ति तृष्णा की पूर्ति में ऐसी उलझ जाती है कि वह यह तो सोच ही नहीं पाता कि उसे भी मरना है। उसे यही लगता है कि सारी दुनिया तो मरेगी, मगर मैं जीवित रहूँगा।

आपके पड़ौसी के घर मृत्यु होती है तो उसे यूँ ही मत समझना। वह आपको संकेत कर रही है कि तुम्हारे घर भी मृत्यु की दस्तक होगी। मृत्यु से कोई बचा नहीं है। मगर आदमी खतरे की इस घंटी की आवाज नहीं सुन पाता। कब तक सोते रहोगे? आखिर अब तो जागो, आखिरी वेला में तुम्हें मौका है कि अपने जीवन का उपयोग कर लो। यह कितना दुःखद है कि झोंपड़ी में रहने वाला आदमी पैसे कमाने के लिए दिन भर जुटा रहता है, तो बात समझ में आती है, पर करोड़पति! शायद मजदूर तो केवल दिन भर जुटा रहता है पैसे के लिए, पर करोड़पति तो दिन-रात जुटा रहता है। उसे विश्रान्ति कहाँ!

देने वाले ने आदमी को सब कुछ दिया है, मगर उसकी तृष्णा नहीं मिटती, वह और चाहता है। गरीब की समस्याएँ कम होती हैं लेकिन लखपति की समस्याएँ लाख होती हैं।

ऊपर से जो व्यक्ति जितना ज्यादा सुखी दिखाई देता है, भीतर से वह उतना ही दुखी है। अधिक धन वाले अधिक दुखी हैं। कुदरत ने उन्हें कुछ ज्यादा ही समस्याएँ दे रखी हैं।

इस धरती पर जितना पाप है, उसका मूल कारण मनुष्य की लोभवृत्ति है, तृष्णा है। लोभ की वृत्ति इतनी गहरी है कि सारी जिन्दगी पूरी होने के बावजूद इसकी भूख नहीं मिटती। मैं जानता हूँ, एक वृद्ध दम्पति की मृत्यु हो गई। वे अपने पीछे लाखों की सम्पत्ति छोड़ गए थे, मगर उनके संतान नहीं है और सम्पत्ति पर हक जमाने के लिए उनके परिवार के लोग न्यायालय में झगड़ रहे हैं। मैं सोचता हूँ, काश! जीवन की सांध्य वेला में वह दम्पति उस सम्पत्ति का सार्थक उपयोग कर जाते।

राजस्थान में एक कहावत है 'पूत सपूत तो क्यों धन संचै और पूत कपूत तो क्यों धन संचै?' मनुष्य को आज की नहीं आगामी सात पीढ़ियों की चिंता है। वह क्यों नहीं सोचता कि आने वाली पीढ़ी सपूत होगी तो अपने आप धन कमा लेगी और कपूत है तो एकत्र धन भी उड़ा देगी। फिर क्यों संचय? मैं ऐसे कई लोगों को जानता हूँ जो कल करोड़पति थे और आज रोड़पति हैं। जो लोग कल सड़क पर भटकते थे, आज पैसे वाले हैं। धन तो धूप-छांव की तरह आता और जाता है।

धन-सम्पत्ति अशाश्वत है, इस सत्य को जानने के बावजूद लोभ की वृत्ति समाप्त नहीं होती। पल-पल इस वृत्ति में वृद्धि होती जाती है, कम होने का तो सवाल ही नहीं उठता। महावीर ने ढाई हजार साल पहले जो बातें कही थीं, वे आज भी प्रासंगिक हैं। गरीब से ज्यादा अमीर के मन में लोभ की वृत्ति है। गरीब सौ रूपए बचाना चाहेगा तो अमीर लाख रूपए के संग्रह का लोभ करेगा। लोभ और चाह की वृत्ति जब तक बढ़ती जाएगी, तब तक व्यक्ति सन्मार्ग पर कदम नहीं बढ़ा पाएगा। चाह की आह उसके जीवन में आग लगा देगी। ऐसी आग जिसे



शायद वह जीते जी न बुझा पाये।

अपनी जरूरत से अधिक की चाह करना ही तो लोभ है। बीस साड़ी है, मगर सौ साड़ियाँ और चाहिये। एक मकान है, मगर और चाहिए। आदमी दुःखी क्यों होता है? तीन मंजिला मकान करवा लिया, मगर चैन नहीं पड़ रही है क्योंकि मकान की खिड़की से बाहर नजर डालते ही पड़ौसी का पांच मंजिला मकान दिखाई देता है और कलेजे में जैसे छुरी चल जाती है। तीन मंजिला मकान वाला भी सुखी हो सकता है किन्तु शर्त यह है कि वह झोंपड़ी वाले की तरफ देखे और प्रभु को धन्यवाद दे कि उसने मुझे इतना बड़ा मकान दे दिया, जबकि उसका पड़ौसी तो झोंपड़ी में ही दिन बिता रहा है।

अपने से कम सुविधा प्राप्त लोगों की तरफ देखने की प्रवृत्ति जाग जाए, तो दुनिया में कोई दुःखी नहीं रहे। आपको स्कूटर मिल गया तो इससे संतोष करो और विचारो कि संसार में ऐसे हजारों लोग हैं, जिनके पास साइकिल तक नहीं है।

मेरे प्रभु! जितना धन एकत्र करते जाओगे, इच्छाएँ भी सिर उठाती जाएँगी। इच्छाओं के सामने तो सिकन्दर भी भिखारी बन जाता है। आखिर तृष्णा कब समाप्त होगी? अस्सी वर्ष का वृद्ध भी दुकान के चक्कर काट रहा है। अभी कुछ दिन पहले की घटना है। एक अस्सी वर्ष का वृद्ध बीमार पड़ गया। अस्पताल में रहा बीस दिन, लेकिन पता है जैसे ही अस्पताल से घर पहुँचा, वह सीधा दुकान गया, सम्हालने कि कहीं बेटों ने कुछ गड़बड़ तो नहीं कर दी है। मंदिर, उपाश्रय उसे याद भी न आये।

मैं सोच रहा हूँ, आखिर अपने जीवन के लिए हम कब काम करेंगे? आखिर लोभ के इस दलदल में ही फँसे रहेंगे या उससे कुछ उपरत भी हो पायेंगे। क्या हम लोभ-वृत्ति का शमन भी कर पाएँगे?

किसी राज-दरबार में एक दिन चर्चा चल रही थी कि पाप का बाप कौन? सबने अपनी-अपनी समझ के अनुसार उत्तर दिये। वहीं एक वेश्या भी मौजूद थी। उसने कहा कि पाप का बाप लोभ है। कोई मानने को तैयार न हुआ। राज-पंडित ने उसका सबसे ज्यादा विरोध किया। दरबार बर्खास्त हुआ। सभी अपने घर चले गए। बात आई-गई हो गई।

एक दिन राज-पंडित कहीं जा रहे थे। चलते-चलते वे थक गए तो एक मकान की चौकी पर बैठ कर सुस्ताने लगे। वह घर उसी वेश्या का था। वेश्या ने खिड़की से झाँका तो देखा, राज-पंडित बैठे हैं। उसने अपनी दासी से कहा कि पंडित को भीतर बुला लो। पंडित ने अंदर जाने से पहले दासी से पूछा कि यह मकान किसका है? दासी ने बताया कि यह वेश्या का मकान है। पंडित बड़े नाराज हुए। 'नहीं-नहीं मैं, वेश्या के यहाँ नहीं जा सकता।'।

दासी ने उन्हें बताया कि मेरी मालकिन आपकी ग्यारह सौनेयों से पूजा करना चाहती है। ग्यारह सौनेयों का नाम सुनकर पंडित का ब्राह्मणत्व कुछ दबा और पंचम ऊर्जा काम करने लगी। पंडित ने विचार किया कि भीतर जाने में क्या होता है? पाप थोड़े ही लगता है। इस तरह अपने मन को समझाकर वे वेश्या के घर के भीतर चले गए। वेश्या ने ग्यारह सौनेयों से उनकी पूजा की। फिर उनसे कहा कि आप यहाँ भोजन कर मुझे कृतार्थ करें। मैं

आपको १०० सौनये की भेंट दूंगी।

पंडितजी लोभ में आ गए। मन की वृत्ति बदली और उन्होंने भोजन कर लिया। 'धन आए मुट्टी में, धर्म जाए भट्टी में।' क्यों यह कहावत है ना! पंडितजी जब भोजन कर चुके तो वेश्या ने अपने मुँह में रखा पान बाहर निकाला और ५०१ सौनयों की थैली दिखाते हुए पंडित को नजर किया। पंडित ने झट से मुँह खोल दिया। उनका मुँह खोलना था कि वेश्या ने एक जोरदार चांटा उनके गाल पर मारा। और साथ ही उनसे कहा, 'अब पता लगा कि पाप का बाप कौन है?' पंडित कुछ बोल न पाया। वह वेश्या का चांटा खाकर हक्का-बक्का रह गया। उसका सिर नीचे झुक गया।

वास्तव में लोभ ही मनुष्य को पाप करने के लिए प्रेरित करता है। लोभ के चलते आदमी नैतिक-अनैतिक का भेद भूल जाता है। आदमी की लोभ-वृत्ति उससे पाप करवाती है। आदमी पाप के कीचड़ में और धँसता चला जाता है। मैंने ऐसे-ऐसे लोग देखे हैं, जिन्होंने जीवन के छः-छः दशक पूरे कर लिए, मगर दुकान के फेरे अब भी लग रहे हैं। आत्म-चिंतन करिये कि ये फेरे कहीं जन्म-जन्म के फेरे न हो जाएँ। आखिर हमें इस आवागमन के चक्र से मुक्त होना है।

जो व्यक्ति इच्छाओं और तृष्णाओं का गुलाम है, उसका वर्तमान भी विफल है और भविष्य भी। हर सफलता उसके जीवन में विफलता का ही प्रतिफल बन कर आती है। जो व्यक्ति लोभ की वृत्ति में जीता है, इच्छाओं का अनुसरण करता है, वह वर्तमान को खड्डे में डालकर भविष्य की सोच रहा है। भला जिसका वर्तमान ही विफल हो रहा है, उसका भविष्य कैसे सफल हो पायेगा? जो 'आज' को असफल कर रहा है उसका कल भी असफल होता है। कल की चिन्ता कल करना, आज तो तुम आज को सार्थक करो। कहीं कल के चक्कर में आज न खो जाये।

आपने देखा होगा, लोग कल की चिन्ता में आज को दुःखी बना बैठते हैं। कल घी की रोटी खाने के ख्वाब में आज की लूखी रोटी को नकार देते हैं। वे यह नहीं जानते कि आज तो मेरा जीवन है जो कल रहेगा या नहीं, निश्चित थोड़े ही है। आज जो अनुकूलता है कल वह प्रतिकूलता में बदल जाये, ऐसा भी सम्भव है। इसलिए उचित यह है कि कल की प्रतिकूलता को कल पर ही छोड़ा जाये और आज की निश्चितता का सदुपयोग कर लिया जाये। कल भी जरूरत पड़ेगी, जो यह सोचकर संग्रह कर रहा है, वह गलती में है। वह मात्र कल्पनाओं में जी रहा है। वह आने वाले कल को अभी तक देख नहीं पाया है, फिर भी उसकी व्यवस्थाओं के लिए चिंतित है। कल की प्रतिकूलता अगर अभी तक जन्मी नहीं है तो जन्म के पहले ही उसके लिए उधेड़बुन में क्यों लगे हो? आज जो अनुकूलताएँ मिली हैं, उनका आज सार्थक उपयोग करें। सम्भव है कल इससे भी ज्यादा अनुकूलताएं मिल जायें। मेरी नजर में जो कल की चिन्ता से मुक्त होकर 'आज' को उज्ज्वल बनाता है, उसका 'कल' भी उज्ज्वल होता है।

लोभ की प्रवृत्ति में जीते हुए, कोरे ख्वाब देखने से कुछ नहीं होगा। सपनों में तो बहुत जी चुके हैं अब अपने में जीने का प्रयास किया जाना चाहिये। सपने में पता नहीं, क्या-क्या होता है। कभी सुख मिलता है कभी

दुःख मिलता है। कभी महफिल जमती है, कभी अश्रुधारा बहती है। उसमें कभी सम्पन्नता है तो कभी विपन्नता है।

मनुष्य बहुचित्तवान है। एक मन कुछ करता है, दूसरा कुछ करता है, तीसरा कुछ करता है। आप स्वप्न देखते हैं कि राष्ट्रपति भवन में भोजन आयोजित किया गया है और भोजन की सुगन्ध का अहसास भी कर रहे हैं, देख भी रहे हैं, भोजन कर भी रहे हैं, तारीफ भी कर रहे हैं स्वादिष्ट भोजन की, पर आखिर यह सब कुछ असीम इच्छाओं को मात्र सान्त्वना देना है। इससे बढ़कर कुछ नहीं। जैसे छोटे बच्चे को माँ दूध नहीं पिलाना चाह रही हो तो उसको रोते हुए चुप करने के लिए रबर की बीटली/नीपल मुंह में पकड़ा देती है। बच्चा उसी को माँ का स्तन मान लेता है और चूसनी चूसते-चूसते ही बच्चे को नींद आ जाती है।

सपना रबर की चूसनी है, सान्त्वना है। और अगर इसी चूसनी को वास्तविक मान लिया तो डूब गये समझो। मेरी नजर में जिस व्यक्ति में जितनी ज्यादा इच्छाएँ पलती हैं, वह उतने ही अधिक स्वप्न देखता है। भला ये कितनी सार्थक होंगी सान्त्वनाएं! यह तो ठीक वैसे ही हैं, जैसे एक बूढ़ा सड़क पार करते हुए गिर गया। एक व्यक्ति ने सहानुभूति से उसे जल्दी से उठा दिया। बूढ़ा उसके प्रति आभार-ज्ञापन करते हुए कहने लगा, 'धन्यवाद भैया जैसे तूने मुझे उठाया है! वैसे ही भगवान तुझे उठाए।'।

स्वयं को स्वप्न-मुक्त करो। यह संसार भी एक सपना ही है। जन्म-मृत्यु, खान-पान, लाभ-हानि, संयोग-वियोग सब कुछ स्वप्न हैं। और यह स्वप्न ही व्यक्ति को स्वयं से दूर कर रहा है।

व्यक्ति अशांत है तो इसका कारण यह नहीं है कि वह शरीर से अस्वस्थ है या अनुकूल परिवार नहीं है या आजीविका का सही साधन नहीं है। यदि ऐसा होता तो दुनिया में आधे लोग ऐसे हैं जिनके पास सारी सुविधाएँ हैं, पर वे शांत नहीं हैं। व्यक्ति की अशांति का मूल कारण उसकी अनगिनत इच्छाएँ, लालसाएँ, वासनाएँ हैं। और तो और, वह व्यक्ति भी भीतर से अशांत है जिसके पास फ्रीज, टी.वी., दुकान, मकान, पत्नी-परिवार सब कुछ हैं, फिर भी अशांत है। कारण? कारण एक मात्र यही है- कुछ और पाने की लालसा।

हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति प्रायः प्रकृति के द्वारा स्वतः ही कर दी जाती हैं। अगर शिशु इस धरती माँ की गोद में आ रहा है तो उसके आहार-दूध की व्यवस्था प्रकृति के द्वारा पूर्व में ही कर दी जाती है। आवश्यकताओं की पूर्ति तो आराम से सम्भावित है। जरूरतों की पूर्ति में तो कोई झंझट है ही नहीं। हाँ, जहाँ पर आवश्यकता आकांक्षा का बाना पहन लेती है, वहाँ झंझटें खड़ी हो जाती हैं। परिणामस्वरूप 'यह चाहिये - वह चाहिये' की प्रवृत्ति शुरू हो जाती है। दो-पाँच-दस मिनट के लिए अगर मंदिर भी चले गये तो वहाँ प्रार्थना में भी वही 'चाहिये' वाली कैसेट भीतर में चलनी शुरू हो जाती है। मेरी नजर में तो परमात्मा के द्वार पर भी अगर संसार की आकांक्षा की जाती है, तो उस पवित्र स्थान में जाने का तुक क्या है? हमारी यात्रा हो आकांक्षा से निष्कांक्षा की ओर।

सम्पन्न व्यक्ति वह है जिसे चाह नहीं है। 'चाहिये' वाली प्रवृत्ति तो जीवन का भिखारीपन है। जिसे कुछ नहीं चाहिये, उसी के पास सब कुछ आता है। 'त्यागे उसके आगे, भोगे उससे भागे'। वह भला कैसा मालिक,

जो इच्छाओं का दास बना है ।

जीवन का घट पल-पल खाली हो रहा है और इच्छाएँ पुरजोर बढ़ी जा रही हैं । क्या जीवन का अन्त होने से पहले हम अपनी इच्छाओं का अंत कर पायेंगे ? अब कितनी-सी जिन्दगी शेष रह गई है ? अब तो झूठ न बोलें । यह हरा पत्ता तो कभी का पीला पड़ चुका है । बस, इसे पेड़ से टूट कर नीचे गिरना ही शेष है । और एक दिन तो यह नीचे गिरेगा ही । जब भी गलत कदम उठाओ तो विचार करो कि मैं ऐसा क्यों कर रहा हूँ ?

हम अपने जीवन को सार्थक बनाएँ । उपलब्धियों को तलाशें । जिन्दगी में निकल रहे धुएँ को आग में बदलें । ज्योति जलाएँ । जीवन की लकड़ी पल-पल सुलग रही है । जीवन को पाना खास बात नहीं है, उसे सँभाल कर रखना महत्वपूर्ण है । लोभ का धुआँ समाप्त करें । ऐसी फूंक मारें कि धुआँ खत्म हो जाए और आग लगी रह जाए । यही जीवन की भव्यता होगी, दिव्यता होगी, उपलब्धि होगी । एक ऐसी ज्योति जिसमें धुआं नहीं होगा । वासना के धुएँ और धुंध के छंट जाने का नाम ही निर्वाण है । हम सबको इसी की अपेक्षा है ।

# पढ़ें, मन का चरित्र



तीन फकीर गंगा किनारे बैठे साधना कर रहे थे। उन्हें साधना करते कई वर्ष बीत गए। एक दिन लोगों ने देखा कि तीनों फकीर धीरे-धीरे जमीन से ऊपर उठने लगे। वे करीब दस फीट तक ऊँचे उठे और अधर में स्थिर हो गए। नगर में शीघ्र ही चर्चा फैल गई कि तीन फकीर अधर में लटक कर तपस्या कर रहे हैं। लोगों ने वहाँ आकर उन्हें प्रणाम करना शुरू कर दिया।

ऐसे ही कई दिन बीत गए। एक दिन एक फकीर ने आंख खोली तो उसकी नजर नीचे पड़ी। उसने देखा कि किसी बगुले ने अपनी चोंच में एक मछली को पकड़ रखा था। उस फकीर के मुँह से निकला 'मुंच' यानी छोड़ दे। इतना कहने की देर थी कि वह फकीर जो अधर में था, नीचे आ गिरा। दूसरे फकीर ने यह घटना देखी तो बोल उठा- 'मा मुंच' यानी मत छोड़ो। इसके साथ ही वह भी नीचे आ गिरा। तीसरे फकीर ने भी यह घटनाक्रम देखा, मगर दोनों फकीरों की हालात देखकर उसे बोध हुआ कि साक्षी भाव में जीना ही ठीक है। उसने किसी प्रकार की प्रतिक्रिया न करते हुए आँख बंद की और पुनः साधना में लीन हो गया और वह फकीर अधर में ही रहा।

इस कहानी की सीधी-सी ध्वनि यह निकलती है कि साक्षी भाव में जीने से ही आदमी मोक्ष की राह में कदम बढ़ा सकता है। बंधन तो आखिर बंधन ही होता है, भले ही वह शुभ का हो या अशुभ का। चिंतन भी ऐसा ही होता है। साधना के मार्ग में तो आदमी को निर्विकार और निर्विचार होना पड़ता है। कोई व्यक्ति भले ही लोहे की साँकल से बंधा हो या सोने की साँकल से, उसे बंधन ही कहा जाएगा। धातु बदलने से बंधन की पीड़ा नहीं

बदल जाती ।

इसलिए बन्धन-मुक्ति अनिवार्य हैं । अशुभ से शुभ अच्छा, पर साधना तो शुद्धत्व की उपलब्धि में ही है । अशुभ-शुभ दोनों से मुक्ति ही चेतना की उपलब्धि है । शुद्धत्व को उपलब्ध करने के लिए आवश्यक है शून्यत्व । अमृत की उपलब्धि के लिए पहले जहर-मुक्ति तो आवश्यक है । अगर भीतर का पात्र जहर-सना होगा तो अमृत भी वहाँ जाकर जहर बन जायेगा । मनुष्य के चित्त में, विचारों में पता नहीं कितना कचरा भरा है, इसीलिए तो मनुष्य तनाव में जी रहा है ।

तनाव-मुक्ति के लिए मौन होकर, सांस पर ध्यान रखते हुए अपने चित्त की गतिविधि को देखें । अपने चित्त के यातायात का निरीक्षण करो । सिर्फ साक्षी बनकर, तटस्थ बनकर । न निंदा, न प्रशंसा, न मूल्यांकन । साक्षी भाव में उपस्थिति के बाद शरीर बदलता है, मन बदलता है, भावनाएँ बदलती हैं, केवल साक्षी वैसा ही रहता है । ध्यान के निरन्तर अभ्यास से विचारों के बादल छँटने लगते हैं और आत्मा का नीला आकाश उदित होता है । जब व्यक्ति को अन्तर्-आकाश का अनुभव होगा तो शरीर, मन, हृदय-इस समूह से पार जाने का स्वाद मिलेगा । जीवन में एक अद्भुत शांति, हर्षोल्लास और परितृप्ति की अनुभूति होगी ।

बिना आंतरिक शून्यता के सत् की उपलब्धि संभव नहीं है । हम स्वयं को आनंद से सराबोर करने के लिए पहले अपने भीतर का कचरा हटायें, गंदगी साफ करें, निर्मलीकरण करें । आंतरिक रिक्तता, उसकी स्वच्छता होगी जैसे-जैसे ताजगी, आनंद उमड़ता रहेगा । और जिस दिन भीतर से आनन्द उमड़ पड़ेगा, उस दिन लगेगा जिसे मैंने रिक्त किया, वह सरोवर लबालब भर गया है, अन्तर्-आनन्द से ।

साधना के पथ पर, फिर से कदम बढ़ाइये । अपने को पहले, बिल्कुल खाली बनाइये ॥

कितने भरे हैं अन्दर, कुछ न समाता । अद्भुत कुछ घटने वाला, घटने न पाता ।

शून्य करने का कुछ-कुछ श्रम तो उठाइये ॥

कूप ऊपर का पानी, लेना न चाहता । अन्तर्-के झरनों से, वह खुद भर जाता ।

व्यर्थ के विकल्पों में गोते न खाइये ॥

शक्कर भरी हो, चाहे धूल भरी हो । सोने की सांकल हो, या लोहा जड़ी हो ।

शुभाशुभ दोनों त्याज्य, शुद्ध बन जाइये ॥

हमें अध्यात्म के मार्ग में एक बार दुबारा कदम उठाना पड़ेगा । अब तक कहीं परम्परागत पथ मिला था, अब हमने अपना पथ स्वयं चीन्हा है, खोजा है । भीतर की विकृतियों/वृत्तियों को बाहर निकालोगे, शून्यत्व की उपलब्धि के लिए तो एक बारगी लगेगा जैसे सब कुछ खाली-खाली हो गया है । मेरे प्रभु ! कमरा खाली नहीं होगा, कमरा सिर्फ साफ-सुथरा हो जायेगा । पहले इधर-उधर सामान बिखरा था, वह व्यवस्थित हो गया है । कमरा पहली बार ऐसा हुआ है, जिसे हम कमरा कह सकें । अंतर हृदय की निर्मलता और शुद्धि हमें मुक्ति के करीब ले जाएगी ।

कितने भरे हैं, अन्दर कुछ न समाता,  
अद्भुत कुछ घटने वाला, घटने न पाता।

क्या पता है कि भीतर के गोदाम में हमने क्या-क्या भर रखा है। इसे गोदाम भी क्या कहें ? कचरा पेटी हो गया हमारा मस्तिष्क। पता है, इस मस्तिष्क में कितना कचरा भरा है निरर्थक विचारों का। ऐसे-ऐसे विचार जिनका हमारे अपने जीवन से सरोकार भी नहीं है। ऊल-जुलूल विचार! क्या कचरा-पेटी भर है हमारा मस्तिष्क और अब तक हम उसे इतना ज्यादा भर चुके हैं कि कुछ अद्भुत हमारे भीतर घटित हो सके, हमने उसकी सम्भावना भी नहीं छोड़ी है। कहीं कोई रिक्त स्थान भी नहीं। उस परम प्रकाश के लिए हमने अपनी सारी खड़कियाँ ही बंद कर रखी हैं। और पता नहीं, इस कचरा-पेटी में हमारी ज्योति कहाँ जाकर दब गयी है ? किसी को इसकी सुध भी नहीं है। बहुत हो चुका है, क्या अब भी अपने साथ ज्यादाती करते रहोगे ?

यह मत सोचो कि कहीं ऊपर से मेघ बरसेंगे और तुम्हें तृप्त करेंगे। नहीं, बाहर का जल तुम्हारे काम नहीं आयेगा। कूप कभी ऊपर के पानी का मोहताज नहीं बनता, वह तो अन्तर् के झरनों से ही स्वयं को लबालब कर लेता है। हाँ, हैं तुम्हारे भीतर आनन्द के अनन्त स्रोत। तुम स्वयं को अपने भीतर के स्रोतों से ही लबालब कर सकते हो।

शुद्धत्व में प्रवेश करने के लिए शुभाशुभ दोनों से मुक्त होना पड़ेगा। थैले में चाहे शक्कर भरी हो या मिट्टी, भारीपन तो दोनों ही देंगे। बन्धन चाहे लौह-श्रृंखला का हो या स्वर्ण-श्रृंखला का— बन्धन आखिर बन्धन ही है। किसी चोर को तुम लोहे की सांकल से बांध सकते हो और किसी पराजित राजा को सोने की सांकल से, पर बंधन में दोनों हैं। सोने की सांकल में बंधे पुरुष को तुम मुक्त नहीं कह सकते। अशुभ से शुभ भला, शुभ से शुद्धत्व भला।

मनुष्य को हमेशा असत्य से सत्य, अंधेरे से प्रकाश और अशुभ से शुभ की यात्रा करनी चाहिये, परन्तु इससे आगे भी उसे दो कदम और बढ़ाने होंगे, जहाँ निर्वाण की पुण्य वेला घटित हो सके। हमें न केवल निर्विकार होना चाहिये, अपितु निर्विचार भी होना चाहिये।

हमारे यहाँ कहते हैं, 'अन्त मति सो गति'। मरते समय मनुष्य के मन में जैसे विचार होते हैं, उसको वैसा ही परभव उपलब्ध होता है। मनुष्य जिस भावना से देहत्याग करेगा, परलोक में वैसी ही भावना से उसका स्वागत होगा। समाधि उसी दशा का नाम है, जहाँ व्यक्ति न केवल अशुभ से शुभ की ओर यात्रा प्रारम्भ करता है, वरन् शुभ से भी दो कदम और आगे बढ़ाकर शुद्धत्व की ओर यात्रा प्रारम्भ हो जाती है।

अगर शुभ मति का परिणाम स्वर्ग है और अशुभ मति का परिणाम नरक, तो शुद्धत्व का परिणाम क्या होगा ? विचार-मुक्ति का परिणाम ? मेरे प्रभु! यही तो मोक्ष है, जहाँ व्यक्ति पाप-पुण्य, शुभ-अशुभ से उपरत होकर आत्मस्थ हो जाता है।

गलत भावनाओं का परिणाम नरक के रूप में मिलता है और अच्छी भावनाओं के फलस्वरूप स्वर्ग का मार्ग प्रशस्त होता है। जहाँ व्यक्ति भावनाओं से, विचारों से शून्य हो जाता है, वहीं आपके जीवन के द्वार पर मोक्ष

दस्तक दे देता है। उस दशा का नाम ही मोक्ष की दशा है। इसलिए सबसे पहली जरूरत इस बात की है कि व्यक्ति अपने मनोमालिन्य और मन की भावनाओं को समझे।

लोग कहते हैं, 'प्रभु, क्या करें? कई साल हो गए। मंदिर जाते हैं, मगर मन नहीं टिकता। सामायिक करते हैं, मगर मन नहीं टिकता। माला फेरते वक्त भी मन स्थिर नहीं रहता। आखिर यह मन है क्या बला?' मन शुभ गति की ओर चलना चाहता है लेकिन चल नहीं पाता। यानी मन मनुष्य के लिए समस्या बन गया है। हकीकत भी यही है। मनुष्य की सबसे बड़ी समस्या मस्तिष्क ही है। और मजे की बात तो यह है कि यही मस्तिष्क आदमी की समस्याओं का समाधान है। इसलिए मन अगर जीवन की समस्या है, तो उसका समाधान भी आखिर वही है। आदमी की बाहर की समस्याएँ तो निपट भी जाती हैं, मगर भीतर की समस्याएँ ज्यादा पीड़ा देती हैं। प्रायः भीतर की समस्याओं को मन ही पैदा करता है और मन ही उनका समाधान करता है। इसलिए जो मन में जीवन्त है, वे अन्तर्-द्वन्द्व में जी रहे हैं।

मन ही मनुष्य के बंधन का कारण बनता है और मन ही मोक्ष के दीप जलाता है। जिसका मन सध गया, उसका मन मोक्ष का कारण बनेगा और जिसका मन बँध गया, वह नरक का कारण बनेगा। मन की गति सुधर गई तो 'स्वर्ग' और बिगड़ गई तो नरक बन गया। मन का स्वभाव ही ऐसा है। वह चंचल है। और जब मनुष्य मन के स्वभाव के विपरीत जाने लगता है तो समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं।

एक बात और ध्यान देने जैसी है कि मनुष्य का चित्त एक चित्रकार है। वह जितने जीवन्त चित्र बनाता है उससे ज्यादा सपनों के चित्र बनाता है। जो संसार बन्धन का कारण है, उसका निर्माण कोई ईश्वरीय शक्ति नहीं करती अपितु हमारा अपना चित्त ही करता है। जब तक चित्त सक्रिय है तब तक संसार है। चित्त की निष्क्रियता ही मुक्ति है। चित्त की सक्रियता संसार है, चित्त की शिथिलता साधना है और चित्त का शून्यत्व समाधि है। संसार का अस्तित्व ही चित्त की सक्रियता से निर्मित होता है। हम भूल जाते हैं चित्त की सक्रियता में अपने अस्तित्व को, चेतना को। हम फिल्म देखते-देखते रोते हैं, हँसते हैं, आकुल-व्याकुल होते हैं। हम भूल जाते हैं कि हम सिर्फ दर्शक हैं, सिर्फ दृष्टा। चित्त का प्रभाव ही अज्ञान है, उसके प्रभाव से मुक्त हो जाना ही ज्ञान है।

मन के पर्दे पर फिल्म चल रही है चौबीसों घंटे। प्रॉजेक्टर भी आप हैं और पर्दा भी आप ही हैं। पर्दे का चित्र-मुक्त, श्वेत बने रहना यही चैतन्य-मुक्ति है। अगर वृत्तियों के चित्रों की रील न हो तो पर्दा स्वतः साफ-सुथरा ही रहेगा। हमारी साधना चित्त को शून्य करने की होनी चाहिये, चित्रों से मुक्त होने की होनी चाहिये, चैतन्य जागरण की होनी चाहिये। जो चित्रों का सृजन कर रहा है, वह चैतन्य से वंचित रह जाता है। चैतन्य को तो वही व्यक्ति उपलब्ध हो पाता है, जिसने चित्त के चित्र विसर्जित कर दिये हैं। ऐसा व्यक्ति ही चेतना के अंतिम स्तर का स्पर्श कर पाता है और वही सम्बोधि की सुवास को उपलब्ध कर सकता है।

हमें यह विवेक भी हो कि साधना-मार्ग में मन को दबाना नहीं है प्रत्युत उसे समझना और समझाना है। मन का जितना अधिक दमन होगा, वह और भी शक्तिशाली होकर उभरेगा। अब तक हमें यही पढ़ाया गया है कि 'मन का कहा न करो। यह तो दबाने के लायक है।' मन में लोभ की प्रवृत्ति पैदा हुई, हमने दबा दी। मन में



वासना की ग्रन्थि ने सिर उठाया, हमने उसे दबा दिया। हर चीज को दबाना हमारी प्रवृत्ति बन गई है। इस प्रवृत्ति ने हमारा भला नहीं, बुरा ही किया है। आपने लोहे की स्प्रिंग को देखा होगा। उसे जितना दबाते जाओगे, वह उतनी ही अधिक शक्तिशाली होती जाएगी। एक सीमा ऐसी आएगी कि वह आपका दबाव सहन नहीं कर, जोर से उछलेगी।

हम मन को दबाने की नहीं अपितु समझने-समझाने की कोशिश करें। हम जरा निरीक्षण करें कि ऐसी कौन-सी स्थायी प्रवृत्तियाँ हैं, जो हमें शुभ कार्यों की ओर नहीं चलने देतीं। मन हमेशा चुनाव करता है। वह फूल और कांटे में से हमेशा फूल चाहता है। उसका राग, उसकी आसक्ति फूल के प्रति होती है। मन हमेशा अच्छी चीज चाहता है। यह अलग बात है कि कई बार उसे बुरी चीज मिल जाती है।

मनुष्य इस चुनाव की प्रवृत्ति में ही चोट खा जाता है। चुनाव तभी संभव है, जब एक के प्रति राग हो और दूसरे के प्रति द्वेष। अगर ऐसा नहीं है तो दोनों चीजें अच्छी हैं, फिर राग-द्वेष कहाँ हुआ? मनुष्य अच्छी वस्तु को स्वीकारता है और बुरी वस्तु को नकारता है। जब ऐसा होगा तो चुनाव की स्थिति रहेगी और आदमी साक्षी भाव में नहीं जी सकेगा।

प्रारंभ में कही गई घटना की याद दिलाता हूँ। छोड़ने को कहा तो भी लगाव और न छोड़ने को कहा तो भी लगाव होगा। जहाँ इनसे ऊपर उठ गए, वहीं व्यक्ति साधना के मार्ग पर प्रवेश कर पाएगा। राग-द्वेष जैसे-जैसे हल्के होते जाएँगे, वैसे वैसे भीतर सजगता आती जाएगी। सजगता से मन मुक्त होता चला जाएगा। जरूरत भीतर सजगता लाने की है। साक्षी-भाव पैदा करने की है।

हम अपने चित्त की गतिविधियों का मात्र निरीक्षण करें। अगर हमारे भीतर उन गतिविधियों के प्रति तटस्थता उपलब्ध हो जाये, तो चित्त की चंचलता स्वतः शान्त हो जायेगी। चित्त कभी रुलाता नहीं है। हाँ, उससे संयुक्त होने का जो तादात्म्य होता है, वह अवश्य रुलाता है। अगर हम कर्ता-भोक्ता दोनों से उपरत होकर मात्र साक्षीभाव में आ जाते हैं, तो आपको देखकर आश्चर्य होगा कि चित्र आये और चले गये, पर राग-द्वेष का उदय न हुआ। बाहर तरंगें उठने की सम्भावनाएँ भी पैदा हुईं, पर साक्षीत्व ने चेतना को निष्तरंग ही रखा।

चेतन का साक्षीत्व में लौट आना जीवन में असीम आनन्द का सूर्योदय है। सुख-दुःख दोनों बाहर के निमित्त से प्रकट होते हैं और आनन्द निमित्त की समाप्ति पर। बहिर्मुखी व्यक्तित्व सुख-दुःख में जीता है और अन्तर्मुखी व्यक्तित्व आनन्द में जीता है। जो मन में, विचारों में, देह में जीते हैं, सुख-दुःख उनके पिछलग्गू बने रहते हैं, लेकिन जो इनसे उपरत होकर अन्तर्चेतना में लौट आया है, आनन्द उसका स्वभाव बन जाता है। बहिर्मुखी अवस्था हमारी विभाव-दशा है और अन्तर्मुखी दशा हमारी स्वभाव-दशा है।

इस दुनिया में जितने भी संबुद्ध लोग हुए हैं उन सबकी एक ही सिखावन रही है कि आनन्द तुम्हारे भीतर है। भीतर लौटने का उपाय है चित्त का विसर्जन, विचारों का विसर्जन। चित्रों के प्रति द्रष्टा बनें। चित्त के विलीन हो जाने के बाद, विचारों के खो जाने के बाद जो अद्भुत आनन्द तुममें उतरेगा उसे शब्दों में अभिव्यक्त करना शक्य नहीं है। गूंगा भला गुड़ के स्वाद को शब्दों में कैसे बाँध पायेगा? शब्द इस अद्भुत आनन्द की अभिव्यक्ति में चूक जाएँगे।

महावीर की साधना का पहला और संभवतः अंतिम सूत्र यही है कि व्यक्ति साक्षी भाव में जिये, दृष्टा भाव में रहे, प्रेक्षा भाव में जिये। ऐसा हुआ तो तुम मोक्ष की डगर पर बढ़ सकोगे। मन की गति राग और द्वेष में रहती है। कई बार ऐसा होता है कि मन की इच्छाएँ पूरी नहीं हो पातीं। ऐसे में वह रात्रि में स्वप्नों में विचरण कर उन इच्छाओं को पूरा करता है।

मैंने सुना है, एक व्यक्ति के उपवास था। वह घर जा रहा था, तो रास्ते में उसे एक होटल में पकवान रखे दिखाई दिए। मन में खाने की इच्छा उत्पन्न हुई, मगर तभी मन में दूसरी इच्छा हुई कि नहीं, आज उपवास है। उसने मन की पहली इच्छा को दबा दिया। घर गया और रात्रि में सो गया। उसका शरीर तो नींद के आगोश में चला गया, मगर मन जाग उठा। वह स्वप्न में उठा, रसोई में गया। वहाँ उसने फ्रीज में रखे हुए पकवान खाए और वापस बिस्तर पर आकर सो गया। सुबह उठा तो पेट खाली का खाली।

इसलिए कहता हूँ, मन की तरंगों को दबाने का प्रयास मत करो। मन को समझने की कोशिश करो। धीरे-धीरे व्यक्ति इन तरंगों से मुक्त होता चला जाएगा। मन को एकाग्र करने के लिए एक छोटा-सा उपाय करके देखें। तीस पृष्ठों की एक कॉपी लेवें। सुबह या शाम, जब भी समय मिले, एक कोने में बैठ जाएँ। फिर मन को खुला छोड़ दीजिये, जहाँ भी जाए, उसे जाने दीजिये। १५-२० मिनट तक ऐसे ही बैठे रहें। बाद में डायरी का पहला पन्ना खोलें। इन पंद्रह मिनटों में आपके मन में जो-जो विचार आए, उन्हें लिख डालिये। दूसरे दिन, तीसरे दिन, इस तरह एक महीने तक यह प्रक्रिया जारी रखें। माह समाप्त होने पर डायरी को खोलकर पढ़ना शुरू करें।

यह डायरी एक तरह से आपकी आत्मकथा बन जाएगी। आप इसे गौर से पढ़ेंगे तो पाएँगे कि मन बँधी-बँधाई कुछ चीजों के बारे में ही बहुत सोचता है। आप इन चीजों को छॉट कर अलग कर लीजिये। इसके बाद शुरू होती है असली कसरत। आप एक-एक कर इन चीजों को त्यागते चले जाइये। अब तक तो आपने कल्पसूत्र और गीता पढ़ी है किन्तु यह डायरी तो आपको अपना कल्पसूत्र देगी। यह वह ग्रन्थ है जो आपकी बुराइयों को शीशे की तरह आपके सामने लाता है। इसका स्वागत कीजिये। धीरे-धीरे इन बुराइयों को छोड़ने का प्रयत्न कीजिये। जब असत् से हमारे सम्बन्ध समाप्त होंगे तो मन की चंचलता भी समाप्त होती चली जाएगी। उसे समाप्त होना ही होगा।

अपने मन को, वृत्तियों को शांत करने के लिए वर्तमान में जीने का प्रयास करें। मन का ताल्लुक मुख्यतः अतीत और भविष्य से होता है। मन कभी अतीत की स्मृतियों में जीता है, कभी भविष्य की कल्पनाओं के साथ उड़ान भरता है। जो हो चुका है, मन उसी को खोजता रहता है, वही खोजता है, तलाश करता है। उन्हीं स्मृतियों की प्रतिध्वनि के रूप में भविष्य बनता है। मन उनमें उड़ानें भरता है। मन की उधेड़बुन जारी रहती है। ध्यान जो कल अच्छा हुआ, मधुर हुआ, वह कल भी हो और जो कल बुरा, कड़वा हुआ वह कल न हो।

मन सुनहरे अतीत को ही भविष्य में दोहराना चाहता है। वह चाहता है कि उसका अतीत ही सुन्दरतम भविष्य बन कर सामने आये। भविष्य वास्तव में अतीत का ही छायांकन है। आश्चर्य की बात तो देखिये कि मन वर्तमान के बिल्कुल उल्टा चलता है। वह उस अतीत में जीता है, जो अब नहीं है, जिसका अस्तित्व नहीं रहा, मात्र स्मृति रही है या फिर उस भविष्य में जीता है जो अभी अस्तित्व में है ही नहीं, मात्र कल्पना है। मन वर्तमान

में स्थिर नहीं हो पाता है इसीलिए वह वर्तमान का अनुपस्थी नहीं हो पाता है ।

वही व्यक्ति वर्तमान का साक्षी हो सकता है, जो ध्यान में जीता है । ध्यान का अर्थ है मन से मुक्त होना और मन से मुक्ति का अर्थ है अतीत और भविष्य से मुक्ति । अतीत और भविष्य के बीच ध्यान की सघनता में जो क्षण घटता है वह वर्तमान है । जो वर्तमान का अनुपस्थी हो गया, वह ध्यान को उपलब्ध हो गया, उसका मनोदर्पण स्वच्छ हो गया ।

मन की चंचलता समाप्त होगी तो ध्यान सधने लगेगा । ध्यान में यही बात महत्वपूर्ण है कि व्यक्ति दृष्टा-भाव, साक्षी-भाव में जिये । जो हो रहा है, उससे मेरा कहीं कोई सम्बन्ध नहीं है । यह तो होना ही है । मैं तो साक्षी भाव में हूँ, ऐसी धारणा पर यदि वह दृढ़ रहे तो धीरे-धीरे चित्त की चंचलता के निमित्त समाप्त होते चले जाएँगे । ध्यान इसी का तो नाम है ।

आप अपने मन की तरंगों को जरा पहचानने की कोशिश करें । ये तरंगें बड़ी सूक्ष्म हैं । आखिर ये तरंगें कहाँ से पैदा हुई ? लाख कोशिश करने के बावजूद उनकी उड़ानें थम क्यों नहीं पाती हैं ?

मैंने सुना है, एक राजा को कहानियाँ सुनने का बड़ा शौक था । लोग आते और उसे कहानियाँ सुनाकर चले जाते । आखिर कहानियों का भी अकाल पड़ने लगा । अंत में राजा ने घोषणा कर दी कि यदि कोई ऐसी कहानी सुनाएगा, जिसका अंत ही नहीं हो तो ऐसे आदमी को एक लाख स्वर्ण-मुद्राएँ दी जाएँगी । लोगों ने प्रयास किया, मगर किसी की कहानी एक घंटे में खत्म हो जाती तो, किसी की दो घंटों में । कई पंडित-ज्ञानी आए, पर जब रामायण और महाभारत की कहानी भी खत्म हो जाती है, और तो और, जीवन की कहानी भी समाप्त हो जाती है, तो कल्पनाओं की कहानी की भला कितनी उम्र ?

एक दिन दस वर्ष का एक बालक राज-दरबार में आया । उसने राजा से कहा कि 'मैं ऐसी कहानी सुनाऊँगा जिसकी समाप्ति नहीं होगी, लेकिन मेरी एक शर्त है ।' राजा ने पूछा कि 'वह शर्त क्या है ?' बालक ने कहा कि 'जब तक मेरी कहानी खत्म नहीं हो जाती, आप सिंहासन से नहीं उठेंगे ।' राजा ने सोचा कि 'आखिर दस वर्ष का बच्चा है, कितनी देर कहानी सुनाएगा, ज्यादा से ज्यादा दो-तीन घंटे ।' उन्होंने शर्त मान ली ।

बच्चे ने कहानी शुरू की । उसने कहा, 'एक बहुत बड़ा बगीचा था । बगीचे में सैकड़ों पेड़ थे और पेड़ों पर लाखों डालियाँ थीं । इन डालियों पर असंख्य पत्ते थे । एक दिन इस बगीचे में हजारों हजार टिट्टियाँ आईं । इन टिट्टियों ने पत्ते खाने शुरू किए । एक टिट्टी ने पत्ते खाकर अपना पेट भरा और उड़ गई फुर्रर..... । दूसरी टिट्टी ने भोजन किया और वह भी उड़ गई फुर्रर..... । तीसरी, चौथी, पांचवी..... ।' करीब घंटे भर तक बालक यूँ ही कहता रहा और संख्या करीब तीन सौ तक पहुँची । बालक ने यही वाक्य कहने का क्रम जारी रखा । शाम हो गई, मगर तब तक मुश्किल से मात्र सौ टिट्टियाँ ही उड़ पाईं । अब राजा परेशान । कहानी खत्म होने तक वह सिंहासन से उठ भी नहीं सकता था । तंग आकर उसने कहा- 'अरे बालक, यूँ तो तेरी कहानी कभी खत्म ही न होगी ।' बालक ने कहा- 'आपने ठीक सोचा, जब तक ये अरबों टिट्टियाँ भोजन कर उड़ नहीं जाएँगी, तब तक कहानी समाप्त नहीं होगी । इसके बाद भी यदि और टिट्टियाँ आ गईं, तो कहानी और आगे बढ़ेगी ।' राजा ने हार मान ली । सचमुच यह वह कहानी है जिसका समापन शायद सम्भव न हो ।

हमारा मन भी ऐसा ही है जिसके भीतर टिड्डियाँ उड़ती रहती हैं। जब तक ये टिड्डियाँ उड़ती रहेंगी, तब तक माला में मन नहीं लगेगा। टिड्डियों के प्रति जो रस है, वैसा रस माला के प्रति नहीं हो पाया है। जहाँ रस होता है, मन वहीं गति करता है। इसलिए पहला काम यह करो कि मन में माला और सामायिक आदि के प्रति रस पैदा करो। जड़ पदार्थ के प्रति रस में कमी लाओ। धीरे-धीरे मन की चंचलता समाप्त होती चली जाएगी।

अपने भीतर प्यास पैदा करने के बाद हमें सामायिक में आनन्द आने लगेगा। इसलिए रस पैदा करें, अहोभाव पैदा करें। जिन्दगी के पल निरर्थक बीतते जा रहे हैं। हमें एक-एक पल का सदुपयोग करना चाहिए। मैंने देखा है, बहुत से लोग घंटों ताश खेलते रहेंगे, मगर उनसे कोई सार्थक कार्य करने को कहा जाएगा तो वे कहेंगे, 'समय नहीं है'।

आदमी जीवन का लगभग एक तिहाई भाग सोने में व्यतीत कर देता है। दूसरा भाग सांसारिक कार्यों तथा गप्पों में बिता देता है और तीसरा हिस्सा कमाने खाने में पूरा कर देता है। सोचो, अपने लिए समय का उपयोग कब करोगे? एक-एक पल मूल्यवान है। उसका सदुपयोग मोक्ष का कारण बनेगा और उसी पल का दुरुपयोग किया तो बंधन होगा। समय खराब नहीं है, हमारे भीतर की भावनाएँ खराब हैं। आकाश में उमड़-धुमड़ कर बादल छा गए। एकाएक छोटी-छोटी बूँदें गिरने लगीं। एक बूंद समुद्र में गिरी और उसमें खो गई। दूसरी बूंद तपते तपते पर गिरी तो 'छम्म' से भस्म हो गई। तीसरी बूंद एक सीप के खुले मुँह में गिरी और मोती बन गई। चौथी बूंद सांप के मुँह में गिरी, जहर बन गई। बूँदों तो सब एक जैसी ही थीं, मगर वे गिरीं अलग-अलग स्थानों पर और इससे उन्हें अलग-अलग गति मिली। मूल्यवत्ता उपयोग की है।

मनुष्य अपने जीवन के पलों का उपयोग कैसे करता है? कोई ताश खेलकर बिता देता है तो कोई सामायिक कर लेता है। यह तो करने वाले पर निर्भर है कि वह अपने पलों का उपयोग कैसे करता है? उसे उसी के अनुरूप परिणाम मिलेगा। जीवन के ये पल इतने मूल्यवान हैं कि आवश्यकता पड़ने पर सारी दुनिया का प्रभुत्व देकर भी इन्हें नहीं लौटाया जा सकता।

सारी दुनिया को जीतने वाला सिकंदर जब मरने लगा तो उसने वैद्यों से पूछा कि 'मुझे कुछ दिन और जीने का मौका मिल सके तो मैं आपको अपने शरीर के बराबर सोना देने को तैयार हूँ।' वैद्यों ने इनकार कर दिया— 'सम्राट्, आप मरण शय्या पर हैं। जीवन अब सम्भव नहीं है।' सिकंदर गिड़गिड़ाया— 'मुझे एक घंटे की मोहलत दे दो तो मैं पूरा राज्य तुम्हें दे दूँगा।' वैद्य बोले— 'सिकंदर, लाख कोशिश करने के बाद भी अब यह जाता हुआ जीवन लौटाया नहीं जा सकता। जितना जीवन जिसका निर्धारित है, उसे उतना ही जीने को मिलेगा।'।

दुनिया को जीतकर भी सिकंदर अपने को नहीं जीत पाया। आखिर वह विश्व-विजेता हारा तो केवल अपने से। लाखों का प्राण हरण करने वाला सिकंदर अपने प्राणों को बचाने के लिए गिड़गिड़ा उठा पर....। कहते हैं, उसने मरते समय अपने मंत्री और सेनापति से कहा कि मेरा शव ले जाते समय मेरे दोनों हाथ खुले और लटकाकर ले जाना, ताकि दुनिया को यह नसीहत हासिल हो कि विश्व-विजेता सिकंदर भी अंत समय में खाली हाथ गया। वह अपने साथ कुछ भी न ले जा सका। यह बात कहने को तो एक कहानी हो सकती है, लेकिन इसमें जो मर्म छिपा है, उसे समझने की जरूरत है।

जीवन बहुत छोटा है। इसका काफी भाग बीत चुका है। हम अब भी जगें और बचे हुए समय का भी सही उपयोग कर लें तो भी हमारा भला हो सकता है। बीती को बिसार कर आगे की सुध लेने वाला व्यक्ति ही समझदार कहलाता है। जो बीत गया, वह तो अब लौट कर आएगा नहीं। बुढ़ापा आकर कभी जाएगा नहीं। वह तो हमारी साँसों की डोरी टूटने के साथ ही जाएगा।

जीवन के एक-एक पल का सदुपयोग कर हम इस दुनिया में आने का सच्चे अर्थों में लाभ उठा सकते हैं। आखिर तो हमें मृत्युलोक को छोड़ना ही पड़ेगा। यहाँ किसी की जागीरी नहीं है। कुछ तो आकर चले गए, कुछ जाने को तैयार हैं। हमें चिंतन करना होगा कि जीवन के पल व्यर्थ न जाएँ। हम प्रत्येक चौबीस घंटे में हमारे अपने लिए क्या कर रहे हैं? जीवन का घट तो पल-पल खाली होता जा रहा है। हम इसे नहीं देख पा रहे, नहीं समझ पा रहे, इससे बड़ा हमारा दुर्भाग्य और क्या होगा? अंत में व्यक्ति को लगता है कि पूरा जीवन बेकार गया और मैं कुछ न कर सका। वह हाथ मलता रह जाता है। जीवन के पल-पल मूल्यवान हैं। करोड़ों रुपये देकर भी हम एक पल वापस नहीं पा सकते। हमें आज ही सोचना होगा। अच्छा काम कल पर न टालें और बुरा काम आज न करें। ऐसा करके हम कई पापों से बच जाएँगे।

भारत में समय और कार्य के सम्बन्ध में दो कहावतें प्रचलित हैं।

काल करे सो आज कर, आज करे सो अब।

पल में प्रलय होयेगी, बहुरि करोगे कब ॥

और

आज करे सो काल कर, काल करे सो परसों।

इतनी जल्दी क्या है बंदे, अभी जियेंगे बरसों ॥

भारत में इन दोनों कहावतों को हँसी में ही उड़ाया जाता रहा है, लेकिन मेरे लिए तो दोनों कहावतें काफी महत्वपूर्ण हैं। इन कहावतों को उड़ते-उड़ते मस्तिष्क से न लेना। गहरा अर्थ-गाम्भीर्य है इनमें। हम इनके सही अर्थ समझ न पाये, इसलिए इन कहावतों को ऊपर-ऊपर से ले लेते हैं। 'काल करे सो आज कर, आज करे सो अब,' यह शुभ कार्य के लिए है। कौन जानता है, अगले पल क्या होगा? अगला पल प्रलय बनकर भी तो आ सकता है, इसलिए अगर कुछ शुभ करना हो, तो अभी कर लो।

'कल का काम आज करें और आज का अभी,' यह पद तो जीवन्त है ही, पर इससे भी ज्यादा जीवन्त पद है दूसरा। बशर्ते हम उसके अर्थ-गाम्भीर्य को समझ लें।

आज करे सो काल कर, काल करे सो परसों।

इतनी क्या जल्दी है बंदे, अभी जियेंगे बरसों ॥

पता है किस अर्थ में कहा गया है यह पद। तुमने इस जीवन्त पद को मजाक में ले लिया। 'आज करे सो काल कर, अर्थात् किसी भी अशुभ कार्य को कल पर टाल देना, बुरे काम को कल के लिए छोड़ देना। हमने अपनी गाड़ी उल्टी चलानी शुरू कर दी। अच्छे कार्य को हम कल पर टाल देते हैं, और गलत को अभी करना

चाहते हैं। अगर क्रोध करना होगा तो तुम तत्काल कर लोगे और करुणा करनी होगी तो उसे कल पर टाल दोगे। अच्छे भाव वैसे तो उठते ही बड़ी मुश्किल से हैं मन में, उसमें भी हम उन्हें कल पर टाल देते हैं यह शुभ नहीं है। शुभ तत्काल करो, अशुभ को कल पर टाल दो।

गुरुजिएफ के बारे में कहते हैं कि जब वे मात्र नौ वर्ष के थे तो उनके दादाजी जो मृत्यु के करीब थे, उन्होंने गुरुजिएफ को अपने पास बुलाया और कहा, 'मैं जो बात कहूँगा, शायद आज तुम उसके रहस्य को न पहचान पाओ। लेकिन बड़े होने पर यह छोटा-सा सूत्र जो मैं तुम्हें दे रहा हूँ, वह तुम्हारे लिए कीमिया बन जाएगा। मेरी यही संपदा है, यही वसीयत है और मेरे पास कुछ भी नहीं है।' गुरुजिएफ के दादा ने कहा, 'कोई तुम्हें गाली दे, तुम्हारा अपमान करे तो कहना 'चौबीस घंटे बाद जवाब दूँगा।'

गुरुजिएफ बच्चे थे, बचपन में इसका रहस्य समझ नहीं पाये, पर बाद में जब समझ आयी तो उन्हें लगा कि इस छोटे-से वचन में शास्त्र समाये हैं और इस छोटे-से वचन ने गुरुजिएफ का जीवन बदल दिया।

गुरुजिएफ ने इस घटना का जिक्र करते हुए लिखा है—इस वचन को जीवन में उतारने का लाभ यह हुआ कि मेरे मित्र कई बने, पर शत्रु एक भी न बना। जब किसी को अच्छा पाया तो धन्यवाद दे दिया, वहाँ मैत्री निर्मित हो गयी और गलत को कल पर टाल दिया तो कोई शत्रु नहीं हो पाया।

गुरुजिएफ की इस घटना के सन्दर्भ में 'आज करे सो काल कर, काल करे सो परसों,' कितनी सही कहावत लगती है। जीवन का घड़ा खाली होता जा रहा है अतः हम अपने वर्तमान का कुछ सार्थक उपयोग कर लें।

मनुष्य जीवन की कहानी भी अजीब है। बात की बात में जीवन बीत जाता है। वह मात्र देखता रह जाता है। जीवन की सांध्य वेला में उसके हाथ केवल पश्चात्ताप रहता है। समझदार मनुष्य वही है, जो एक-एक पल का सदुपयोग करना सीख जाए। जो लोग गप्पों में समय बिता देते हैं, उनसे मेरा विनम्र आग्रह है कि वे अपने लिए समय का उपयोग करना शुरू करें। वे सोचें- मैं कौन हूँ- कहाँ से आया हूँ- मेरा क्या कर्तव्य है? हजार बार ये प्रश्न करोगे तो एक बार जवाब भी मिलेगा कि तुम आत्मा हो। समय बीतता जा रहा है। एक बार चूके तो समझो हमेशा के लिए चूके।

एक भिखारी रोजाना की तरह भीख मांगने निकला। सुबह से शाम हो गई। उसे कहीं भीख नहीं मिली। सूर्यास्त हो गया तो वह घर की ओर लौटने लगा। उसे राह में एक और भिखारी मिला। उसने इस भिखारी का उदास चेहरा देखा तो समझ गया कि आज इसकी झोली खाली है। उसने कहा कि मेरे पास दो मुट्ठी चावल हैं। इनमें से एक मुट्ठी तुम ले लो। वह बड़ा प्रसन्न हुआ।

अपने भिखारी साथी से एक मुट्ठी चावल लेकर वह जैसे ही आगे बढ़ा तो देखा कि नगर का राजा अपने सैनिकों के साथ आ रहा है। वह खुश हुआ कि राजा उसकी झोली में कुछ तो डालेगा ही, मगर वह उस समय हैरान रह गया, जब राजा उसके चरणों में गिर पड़ा। उसने भिखारी से कहा- 'भाई! मैं राजा जरूर हूँ, मगर तुमसे भीख मांगने आया हूँ। मुझे अभी-अभी राज-ज्योतिष ने बताया है कि मुझे जो पहला भिखारी भीख देगा, उससे मेरा भला होगा। तुम मुझे जो भी चाहो भीख दे दो, कुछ भी दे दो।'

भिखारी ने माथा पीट लिया। 'अरे, जिस नगर में राजा ही भिखारी हो, वहाँ भिखारी को भला क्या भीख मिलेगी ? उसने राजा की अनुनय-विनय पर ध्यान दिया और झोली में से बड़े कांपते हाथों से चावल का एक दाना निकाला तथा राजा को दे दिया। राजा ने भिखारी का शुक्रिया अदा किया और राजमहल की ओर लौट गया।

इधर वह भिखारी अपनी झोंपड़ी में पहुँचा तो उसकी पत्नी ने पूछा कि 'आज क्या लाए ?' भिखारी ने पूरी कथा सुना दी। उसकी पत्नी ने कहा कि 'क्या हुआ जो एक दाना चला गया ?' वह झोली लेकर चावल थाली में निकालने लगी तो उसकी आँखें आश्चर्य से भर गईं। उसने देखा कि चावलों में एक दाना सोने का हो गया था। उसने अपने भिखारी पति को वह दाना बताया और कहा कि 'तुरंत जाओ और राजा को और भी चावल दे आओ। हमारे सभी चावल सोने के हो जाएँगे।'

भिखारी ने टंडी सांस भरकर कहा- 'अब कुछ नहीं हो सकता। मैं चूक गया। वह पल अब वापस नहीं आने वाला। अब तो सारे चावल दे आऊँ तो भी कुछ न होगा। राजा का वह मुहूर्त चला गया। अब ऐसा पल नहीं आएगा कि राजा भीख मांगे।'

हम अपने जीवन में ऐसी ही चूक कर रहे हैं। बाद में जब आँख खुलती है, तब तक बहुत देर हो चुकी होती है। गंगा तो हमारे द्वार तक आती है, मगर हम उसमें डुबकी लगाने से चूक जाते हैं। ये चूकने की नौबत न आए, इसके लिए किसी काम को कल पर न टालें। वर्तमान का उपयोग करना सीखें। अतीत की स्मृतियों से पीछा छुड़ाएँ और भविष्य के सपने न देखें। अपना वर्तमान भरपूरता के साथ जियें।

मनुष्य वर्तमान में जीना सीख ले, तो मन की तरंगें भी समाप्त होने लगेंगी। महावीर कहते हैं, 'जो अतीत और भविष्य की जंजीरों से वर्तमान में लौट आया है, वही दृष्टा-भाव में जी रहा है।' ऐसा आदमी ही जीवन का सच्चा आनन्द ले सकता है। आइये, हम इस आनन्द को प्राप्त करने की दिशा में कदम बढ़ायें।

# दुनिया के दलदल में खिलते कमल



तपस्या करने के कई तरीके हैं। कुछ लोग संसार त्याग कर पहाड़ों पर चले जाते हैं, तो कुछ लोग जंगल में जाकर धूनी रमा लेते हैं। कुछ तो ऐसे भी होते हैं जो एक पाँव पर खड़े होकर बारह-बारह वर्ष तक तप करते हैं। कई ऐसे भी साधु हुए जो एक हाथ ऊँचा कर तपस्या करते रहे। कई लोगों ने श्मशान में ही डेरा जमा लिया, ताकि संसार की नश्वरता को साक्षात् देख सकें। बहुत से लोग अपने शरीर को सुखा लेते हैं और उनके शरीर पर पक्षी अपने घोंसले बना लेते हैं। आपने सुना होगा, कई तपस्वी ऐसे भी हुए जो अपने चारों तरफ आग जलाकर तपस्या करने खड़े हो गए।

इतना होने के बावजूद ऐसे कितने लोग हैं, जो वास्तव में आत्म-ज्ञान पा सके? क्या उनमें कहीं कोई परिवर्तन आ सका? भीतर तो तब भी क्रोध की चिंगारियाँ जीवित रहीं। कलुषता में, अहंकार में कहीं कमी नहीं आई। उलटे तप करके आदमी को यह घमण्ड और हो गया कि मैंने इतने मुश्किल तरीके से तपस्या की है। यह घमण्ड तथा आत्मश्लाघा ही तो साधक की शत्रु है। हम भले ही चाहे जितनी तपस्याएँ कर लें, जब तक हम अन्तर-शुद्धि नहीं करेंगे, तब तक जीवन की विशुद्धि नहीं होगी।

व्यक्ति बाहरी तपस्या के मामले में काफी आगे बढ़ जाता है। ऐसे लोग भी हैं जिन्होंने लाखों-करोड़ों का दान दिया है, वर्षों से जो शील व्रत का पालन कर रहे हैं, व्रत-उपवास कर रहे हैं, पर इसके बावजूद उनमें इस बात का ही अहंकार है कि मैं तपस्वी, मैं दानी, मैं ब्रह्मचारी हूँ। चाहे तपस्या हो या दान, अगर 'मैं' का भाव साथ में बढ़ता जा रहा है, तो व्यक्ति कितना भी आगे बढ़ जाये, वापस वहीं आना पड़ेगा, जहाँ से उसने यात्रा प्रारम्भ



की थी। जिन्होंने अहंकार का विसर्जन नहीं किया, 'मैं' भाव से मुक्त नहीं हुए वे ऐसी नाव हैं जिसकी जंजीर तट से बँधी है, अब उस नाव में बैठकर जिंदगी भर तक पतवारें चलाते रहो, यात्रा नहीं होगी। जीवन भर धर्म के नाम पर कर तो बहुत कुछ लेते हो, पर जीवन में, व्यवहार में रूपांतरण की चमक नहीं आ पाती है। जैसे एक नेता को अपनी सत्ता का अहंकार होता है, सम्पन्न व्यक्ति को धन का अहंकार होता है, वैसे ही कहीं ऐसा तो नहीं है कि हमें भी धर्म का, धार्मिक होने का, कहीं कोई अहंकार अनुभव हो रहा हो।

कल तक तुम पाप कर रहे थे, गलत धंधे कर रहे थे। तब तुमने किसी को नहीं कहा कि मैं पाप कर रहा हूँ, लेकिन आज थोड़ा-सा पुण्य करना प्रारम्भ किया, तो अखबारों में छपवाने की ललक पैदा हो गयी, रंगीन पत्रिकाएँ छपवाने की प्यास जग गयी। सारे देश में तुम यही फैलाना चाहते हो कि तुमने तीस उपवास किये हैं या एक लाख का दान दिया है। और यह भावना ही व्यक्ति में अहंकार का बीजारोपण करती है। परिणाम यह होता है कि व्यक्ति दान देने के लिए दान नहीं देता या तपस्या करने के लिए तपस्या नहीं करता है। वह दान देता है अपनी अहं-तुष्टि के लिए, तपस्या करता है अपने अहंकार के पोषण के लिए। आदमी एक दिन मंदिर में जाकर प्रार्थना कर आता है, तो अपने आपको धार्मिक घोषित कर देता है। अध्यात्म के क्षेत्र में जो व्यक्ति अपने धार्मिक होने का मीठा अहंकार पाल लेता है, वह ऊँची उड़ान भरने वाला व्यक्ति अपने ही हाथों स्वयं को गड्ढे में गिरा देता है।

मैंने सुना है, एक मुसलमान व्यक्ति काफी धार्मिक था। पाँचों समय नमाज अदा करे, लेकिन फिर भी कहीं कोई अहंकार का भाव नहीं। पर उसे इस बात का गहरा दुःख था कि उसका बेटा न तो कभी नमाज अदा करता है और न कभी मस्जिद का मुंह तक देखता है। बेटा एक नम्बर का नास्तिक था। पिता समझा कर हार गया, पर बेटा कभी नमाज अदा करने मस्जिद न गया। आखिर एक दिन पिता ने कुछ ज्यादा ही आग्रह किया, तो बेटे ने कहा, 'ठीक है, कल सुबह पाँच बजे वाली नमाज में मैं आपके साथ चलूँगा।'

सुबह जैसे-तैसे पिता ने उसे नींद से उठाया और पिता-पुत्र नमाज अदा करने मस्जिद गये। जब वे मस्जिद से वापस आ रहे थे तो गर्मी का मौसम था और लोग घरों के बाहर ही सो रहे थे। पुत्र ने देखा, सोये हुए उन लोगों को। उसने पिता से कहा, 'पिताजी, ये लोग कितने अधार्मिक हैं! छह बजने को आए हैं, पर अभी भी खटिया नहीं छूट रही है। ओह! इनका भला कैसे होगा?'

पिता तो आश्चर्यचकित हो गया। एक दिन की नमाज अदा की जिसमें इतना अहंकार। अरे, कल तक तुम आठ बजे तक सोये पड़े रहते थे, तब तुम्हें नहीं लगा कि मैं अधार्मिक हूँ। तुमने एक समय की नमाज अदा कर ली तो तुम्हें धार्मिक होने का अहंकार हो गया। कितना अच्छा होता यदि आज भी तुम नहीं आते तो कम से कम धार्मिक होने का अहंभाव तो न जगता।

हमारी हालत भी कुछ ऐसी ही है। धार्मिक होने का एक पवित्र अहंकार हम साथ में ढो रहे हैं! अभी कुछ दिन पूर्व मेरे हाथ में एक धार्मिक पुस्तक आयी। मैंने देखा, जिस व्यक्ति ने दान देकर वह पुस्तक छपवायी, उसका जीवन-चरित्र पुस्तक में प्रकाशित था और उस जीवन-चरित्र में उसके धार्मिक कृत्यों की पूरी सूची थी।

वहाँ पाँच हजार दिये, अमुक उपाश्रय में इक्कीस हजार दिये, वहाँ मंदिर में इक्कावन हजार दिये या अमुक तपस्याएँ की- अब दान और तपस्या भी प्रदर्शन के लिए हो गये। इसकी तो सूची छपवा रहे हो कि तुमने कहाँ- कहाँ दान दिया, पर तुमने क्या कभी वह सूची भी छपवायी है कि तुमने कौन-कौन से पाप करके धन का उपार्जन किया है। मेरे प्रभु! अहंभाव को छोड़ो। पुण्य प्रदर्शन करने के लिए नहीं, अपितु जीने के लिए है। चाहे मुनि हो या गृहस्थ, अगर धार्मिक होने का अहंकार है, धार्मिकता से प्रतिष्ठा पाने की तमन्ना है, तो यह खतरनाक है। इसीलिए तो मैं भीतर रूपांतरण पर जोर देता हूँ। अगर व्यक्ति का बोध जग जाये तो उसका विकास उसे विनम्रता देता है।

इतना ही नहीं कि हम धार्मिक हैं इसका हमें अहंकार है, अपितु जिस धर्म से तुम जुड़े हो भले ही वह चाहे जो हो, उससे भी तुम्हारा अहंकार जुड़ा है। धर्म से भले ही तुम्हें सरोकार न हो, पर तुम स्वयं उस धर्म से जुड़े हो इसलिए उसे ही श्रेष्ठ मानोगे। और अगर दूसरा कोई व्यक्ति उस धर्म के बारे में कोई गलत बात कह रहा है, भले ही वह सही हो पर तुम बौखला जाओगे। अगर तुम बौद्ध हो और तुम्हारे सामने यदि कोई महावीर को गालियाँ दे रहा है, तो तुम्हें कोई दिक्कत न होगी। अगर तुम जैन हो और तुम्हारे सामने यदि कोई बुद्ध को बुद्ध भी कह दे तो भी तुम्हें कोई दिक्कत न होगी। तुम्हें महावीर, मुहम्मद, कृष्ण-क्राइस्ट किसी से कोई मकसद नहीं है। हाँ! जिससे तुम जुड़े हो, जिसे तुमने अपना मान लिया है, यदि उसके बारे में किसी ने दो कटु शब्द कह दिये तो तुम उत्तेजित हो जाओगे, क्योंकि उससे तुम्हारे अहंकार को चोट लग रही है। भगवान के लिए कड़वे शब्द कह दिये, इसलिए तुम उत्तेजित नहीं हुए। उत्तेजना इसलिए आयी क्योंकि वे 'तुम्हारे' भगवान हैं। अगर कोई भगवान के लिए कड़वे शब्द कहे और तुम्हें खेद हो तब तो बात जमेगी, पर अगर ऐसा है तो बुद्ध भी भगवान है अतः उनके बारे में कटु शब्द कहे जाने पर तुम्हें उत्तेजित होना चाहिये था, भले ही तुम जैन हो। धर्म के नाम पर लड़ने मरने वाले लाखों मिल जाएंगे पर धर्म को ईमानदारी से जीने वाले लोग कितने हैं!

अगर तुम किसी जैन के सामने महावीर की निंदा करो, वह क्रोधित हो उठेगा। बौद्ध के सामने बुद्ध की, हिन्दू के सामने राम-कृष्ण की, ईसाई के सामने ईसा की, मुसलमान के सामने मुहम्मद की, सिख के सामने नानक की निंदा करके तो देखो वह पत्थर मारने को तैयार हो जायेगा। हाँ! यदि तुम उनकी प्रशंसा करो तो वह भी प्रसन्न होगा। उसे तब कोई एतराज नहीं होगा, वह थोड़ा बहुत प्रसन्न ही होगा, अगर उसके धर्म के सिवाय किसी दूसरे धर्म के भगवान की निंदा भी करोगे तो भी।

लोगों ने बड़े सूक्ष्म अहंकार पाल रखे हैं। विश्व में जितने साम्प्रदायिक युद्ध हुए हैं उनमें अहंकार ने ही निमित्त का काम किया है अन्यथा धर्म के लिए आदमी लड़ता थोड़े ही है। अगर धर्म के लिए इंसान लड़ता तो 'इस्लाम खतरे में है' होने पर हिन्दू भी उसकी रक्षा के लिए लड़ता और हिन्दू धर्म खतरे में होने पर मुसलमान भी उसकी रक्षा के लिए लड़ता। फिर बलात् धर्म परिवर्तन नहीं करवाये जाते अपितु जो व्यक्ति जिस धर्म का अनुयायी है, उसे उसी में प्रगति करने का प्रोत्साहन दिया जाता। मेरे प्रभु! लड़ाइयाँ कभी मंदिर-मस्जिद के पीछे नहीं हुईं, लड़ाइयाँ तुम्हारे अहंकार के परस्पर टकराने के कारण हुई हैं। तुम मस्जिद इसलिए गिराना चाहते हो

क्योंकि तुम्हें विश्वास है कि ऐसा करके तुम मुसलमानों के अहंकार को गिरा रहे हो, मंदिर इसलिए गिराना चाहते हो ताकि इस माध्यम से हिन्दुओं के अहंकार को गिरा सको।

भारत के लोग अपने आपको आर्य कहते हैं और इसके अतिरिक्त सारी दुनिया को अनार्य। यह एक तरह का पवित्र अहंकार नहीं तो और क्या है ? जिस देश को तुम आर्य देश कहते हो, क्या वहाँ अनार्यों की कोई कमी रही थी ? क्या यहाँ रावण और कंस पैदा नहीं हुए ? क्या यहाँ सीता का अपहरण और द्रौपदी का चीरहरण नहीं हुआ ? फिर किस आधार पर हम अपने मुल्क को 'आर्य' और दुनिया को 'अनार्य' घोषित कर रहे हैं ? अतीत को छोड़ो और वर्तमान को ही ले लो। आज तुम्हारे आर्य देश में जितनी अनार्यता पनपी है, उतनी तो कभी अनार्य देश में भी न रही होगी। यहाँ जितने अपहरण, हत्याएँ, बलात्कार, बेईमानी, रिश्वतखोरी चल रहे हैं, उतने तो उन अनार्य देशों में भी नहीं है। जापान का मंत्री तो एक क्षण में इस बात को लेकर इस्तीफा दे देगा कि किसी ने उस पर रिश्वतखोरी का आरोप लगा दिया है। तुम्हारे आर्य देश में क्या ऐसा कभी हुआ ? नीचे से ऊपर तक सब अपनी जेब गरम करने में लगे हैं। हमारे मुल्क से हमने अहिंसा, ईमानदारी और नैतिकता का निर्यात कर दिया है। विदेशों में तो भारतीय नागरिक की ऐसी छवि बन गयी है कि अगर वह वहाँ किसी दुकान में प्रवेश करे तो दुकानदार सावधान हो जाता है कि 'यह इंडियन है, कहीं कुछ साफ न कर दे।' क्या अब भी हम आर्यता की मुहर साथ लगाए चलेंगे ? इस अहिंसावादी देश की आधी संख्या शराबी हो गयी है, अंडे घर-घर में उबलने लग गये हैं, और जिन्हें तुम आर्य कह रहे हो, वे अनार्यों का जीवन ( पाश्चात्य जीवन ) जीने को लालायित हैं, फिर भी इसे आर्य देश कहकर इसकी मजाक क्यों उड़ाते हो ?

स्वयं को आर्य और औरों को अनार्य कहने की प्रवृत्ति जो हमारे भीतर में प्रवेश कर गयी है, उसके गहरे में कोई अहंकार की भावना ही छिपी है। मैं बड़ा हूँ, सीधा-सपाट कहना मनुष्य के लिए कठिन है, इसलिए वह अहंकार को दूसरा जामा पहनाता है। मेरा धर्म बड़ा, मेरा गुरु बड़ा, मेरा देश बड़ा कहकर प्रत्यक्ष में भले ही वह इन्हें बड़ा कह रहा हो पर परोक्ष में वह अपनी ही बड़ाई कर रहा है।

इस जन्म में तुम जैन हो इसलिए कल्पसूत्र की महिमा गा रहे हो। पिछले जन्म में अगर मुसलमान थे तो कुरान की महिमा गायी थी। उससे पहले बाइबिल, गीता या पिटक की महिमा गायी होगी। महिमा तुम न सत्शास्त्र की गा रहे हो, न सद्धर्म की। महिमा उसकी गा रहे हो जो तुमसे जुड़ा है। पिछले जन्म में तुमने कुरान से वेद को अच्छा माना था, इस जन्म में हो सकता है तुम वेद से कुरान को अच्छा साबित करने में लगे हो। मेरे प्रभु! न कोई किसी में श्रेष्ठ है, न हीन है। श्रेष्ठता और हीनता की भावना सिर्फ तुम्हारे भीतर है। ये सब तो अनूठे हैं। इन्हें तोलने से क्या होगा ? नाहक हम एक-दूसरे से लड़ेंगे।

यह तो ऐसे ही हुआ जैसे प्रिंटिंग प्रेस के बाहर लिखा रहता है- 'सबसे सुन्दर छपाई का एकमात्र स्थान।' और आश्चर्य यह है कि ऐसा ही प्रत्येक प्रेस के बाहर लिखा मिलेगा। ये सब प्रयोग अनुपम हैं। किसकी किससे तुलना करोगे ? गुलाब की अपनी महत्ता है और चम्पे की अपनी। अब भला इन दोनों में तुलना करने से क्या लाभ ? तुम किसे हीन कहोगे और किसे श्रेष्ठ ? तुम जिसे कुशास्त्र कह रहे हो, उसकी रचना भी किसी महापुरुष

ने ही की है। उस 'कुशास्त्र' के भी लाखों पाठक हैं और वे तुम्हारे शास्त्र को 'कुशास्त्र' कह रहे हैं। गुलाब को प्रेम करने वाले लोग इस धरती पर हैं और चम्पे से प्रेम करने वाले भी। दोनों की अपनी-अपनी सुगंध है। हाँ, अगर तुम्हारे भीतर हीनग्रन्थियाँ हैं तो भले ही तुलना कर तुम एक को हीन घोषित कर दो। लेकिन इससे उनके महत्व में कोई फर्क नहीं पड़ेगा।

महावीर और बुद्ध समकालीन थे। लेकिन परस्पर कभी नहीं लड़े। लेकिन उन्हीं के अनुयायी उनके नाम पर परस्पर लड़-झगड़ रहे हैं। सम्मत् शिखर, अंतरिक्षजी और मक्षीजी को लेकर जो विवाद छिड़ रहा है, वहाँ आज लड़ाई हो रही है। इसमें इन तीर्थों या दिगम्बर-श्वेताम्बर की कोई लड़ाई नहीं है, लड़ाई सिर्फ तुम्हारे अहंकार की है। और मेरे देखे तो धर्म-सम्प्रदाय, मत-मजहब की जो भी लड़ाइयाँ लड़ी गयी हैं, उनमें सिर्फ हमारा अहंकार टकराया है और चिंगारियाँ पैदा हुई हैं। ये सब हमारी हीन मानसिकता नहीं तो और क्या है जो हम अपनी अहं-तुष्टि के लिए औरों को निकृष्ट घोषित कर रहे हैं।

परमात्मा, धर्म और शास्त्र आदि तो सबके हैं और एक जैसे ही हैं। न किसी का परमात्मा श्रेष्ठ है और न हीन। फिर क्यों हम बेकार का अहंकार पालें? इन पर किसी की बपौती नहीं है, ये सबके हैं, सारे जहाँ के हैं।

अपनी दृष्टि को परिमल बनाने का प्रयास करो। अगर यही काट-छाँट, तेरा-मेरा, छोटा-बड़ा की दृष्टि हमारी रही तो सब कुछ करके भी हम स्वयं को मंजिल तक नहीं पहुँचा पाएँगे। साधना का पहला और अन्तिम सोपान है सम्यग्दृष्टि ही तो है।

महावीर से पहले बहुत से लोग हुए, जिन्होंने अलग-अलग ढंग से तप किए। बुद्ध ने भी शरीर को तपा कर देख लिया कि शरीर सुखाना ही तप नहीं है। इसलिए उन्होंने विशेष रूप से दर्शन की विशुद्धि पर जोर दिया। व्यक्ति का बाहर से सब कुछ बदल गया है, लेकिन वह भीतर से नहीं बदले तो केवल बाहर का परिवर्तन तो उसका कल्याण नहीं कर पाएगा।

व्यक्ति बाहर से तो बहुत सीधा, शरीफ और सच्चा दिखाई देता है, मगर भीतर से वह उससे ज्यादा धुँधला व्यक्तित्व लिये हुए है। बाहर से तो प्रकाश दिखाई देगा, मगर भीतर सिवाय अंधकार के और कुछ नहीं होगा। कई लोगों को आपने देखा होगा कि वे किसी के सामने तो उसकी प्रशंसा करते नहीं थकते, मगर जैसे ही वह व्यक्ति आंखों से ओझल हुआ नहीं कि उसकी बुराइयाँ शुरू कर देते हैं। 'मुँह पर राम, बगल में छुरी। मुँह पर फूल, भीतर काँटे।' ऊपर से तो आदमी मीठी बातें करेगा किन्तु पीठ पीछे छुरी चलाने से बाज नहीं आएगा। भीतर तो कषाय-ही-कषाय भरे हैं। हम बाहर से तो परिवर्तन करते जाएँगे, मगर भीतर से बदलाव नहीं लाएँगे।

आदमी ने मास-क्षमण किया, लेकिन जरा उससे पूछो कि भाई मास-क्षमण से पहले और बाद में आपकी चित्त की दशा में क्या परिवर्तन हुआ, तो वह जवाब नहीं दे पाएगा, क्योंकि वह जानता है कि भीतर तो वे ही पहले जैसे हाल हैं, उनमें कोई परिवर्तन नहीं है। हम स्वप्न तो देखते हैं बुद्ध और क्राइस्ट के, लेकिन हमारे कृत्य कितने निकृष्ट हैं! जब तक चित्त में हिंसा है, दमन के भाव हैं, कषाय की वृत्तियाँ हैं, तब तक अहिंसा और तपस्या का मात्र अभिनय ही हो सकता है। क्योंकि धर्म-अध्यात्म का सम्बन्ध देह से कम किन्तु देहातीत तत्त्वों

से ज्यादा है। अपने अन्तर्-अस्तित्व का साक्षात् करने के बाद जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह हमारे अन्तर्-बाह्य व्यक्तित्व को स्वर्णिम प्रकाश से भर देता है। मुक्ति का मार्ग मात्र आचरण से नहीं अपितु प्रज्ञा के जागरण से प्रारम्भ होता है। इसलिए हम धार्मिक होने अथवा कहलाने से पूर्व अपने अन्तर्-बोध को जगाने का प्रयास करें।

आज हमने मास-क्षमण किया। कल उपवास से पूर्व हमने पत्नी पर क्रोध किया क्योंकि दाल में नमक ज्यादा पड़ गया था और आज उपवास के बाद जब खाना खाने बैठे तो फिर वही रोना। आज आपको मनपसंद सब्जी न मिली, इसलिए आपके मिर्चे लग गई और फिर पत्नी! बेचारी की शामत आ गई। ऐसे उपवास का अर्थ ही क्या रहा? हम यदि एक-दूसरे के प्रति आत्मीयता का भाव रखकर जी लें तो समझिये, स्वर्ग में ही जी रहे हैं। आदमी वैर-वैमनस्य के भाव रखता है तो नरक भी यहीं है। यह मत सोचिये कि मरने के बाद ही कोई स्वर्ग-नरक मिलेंगे। जैसा काम, वैसा दाम, स्वर्ग-नरक यहीं हैं। मरने के बाद स्वर्ग-नरक पाना अलग बात है।

स्वर्ग सौन्दर्य और सुगंध का प्रतीक है। अब हमें यह चिंतन करना है कि हमारे कर्म कैसे हैं, जिनके कारण हमें स्वर्ग मिल रहा है या नरक। एक गरीब आदमी भी स्वर्ग में रह सकता है और एक अमीर आदमी भी नरक में जी सकता है। आदमी कोठी में रहता है, पैसे भी खूब है तो वह समझता है कि वह स्वर्ग में रह रहा है, मगर उसके क्रियाकलाप देखोगे, तो पता लगेगा कि वह नरक में ही जी रहा है। बाहर से तो प्रेम, अहिंसा की बातें करते हो, मगर भीतर नरक को जीवित रखते हो। यह जीवन का दोहरापन नहीं तो और क्या है?

महावीर ने इसीलिए तो कहा था कि ज्ञान और चरित्र तो अपनी-अपनी जगह है अतः पहले अपने दर्शन को पवित्र करो। हम लोगों ने गलत रास्ता पकड़ लिया है। हम पहले चरित्र का पालन करते हैं, फिर ज्ञान और तीसरे क्रम पर दर्शन को विशुद्ध करते हैं। महावीर ने कहा था कि सबसे पहले दर्शन पर ध्यान दो, फिर ज्ञान पाओ। इनके बाद चरित्र तो अपने आप सध जाएगा। आगे चल कर चरित्र से तप में प्रवेश करो। हम तो सबसे पहले तपस्या करने बैठ जाते हैं। जरा सोचो, भीतर से सफाई किए बिना तपस्या क्या अर्थमूलक होगी? जहर सने पात्र में कभी अमृत की बूंदें क्या अपना अस्तित्व बचा पाती हैं?

महावीर दर्शन से यात्रा प्रारंभ करना चाहते हैं। दर्शन की विशुद्धि यानी भीतर का कचरा निकालने का प्रयत्न। अगर भीतर का कचरा बाहर नहीं निकला, तो भीतर की सफाई कैसे होगी? आपने अपने प्याले में जहर भर रखा है। अब इस प्याले में अमृत भरना चाहते हैं, तो पहले जहर को खाली करना ही होगा। अन्यथा अमृत भी भीतर जाकर जहर बन जाएगा। जब तक भीतर का कचरा साफ नहीं होगा, ऊपर से भले ही कितना ही ज्ञान प्राप्त कर लो, उपाधियाँ ले लो, सब बेकार हैं। भीतर कचरा भरा रहेगा तो ऊपर लीपापोती होती रहेगी। भीतर रूपांतरण नहीं हो पाएगा।

आज आवश्यकता है कि हम धर्म का सही मूल्यांकन करना सीखें। सम्यग्दृष्टि वह है जो सत् को सत् और असत् को असत् रूप में निहारती है। जिसका जितना महत्त्व है, उसे उतना ही महत्त्व दिया जाना चाहिये। पत्थर-नगीना, काँच-हीरा सबका महत्त्व है, पर अलग-अलग। अगर काँच और हीरे को एक जैसी चमक होने के कारण एक श्रेणी में लाकर खड़ा कर दिया तो अनर्थ हो जाएगा। फिर तो 'टके सेर भाजी, टके सेर खाजा' वाला अनर्थकारी मूल्यांकन हो जाएगा।

धर्म और अध्यात्म में भी हमें सम्यग्दृष्टि रखनी होगी। और अगर यह दृष्टि न रही तो धर्म की मूल आत्मा खो जाएगी। दान देना अच्छा है। वह धर्म और मानवता का आवश्यक और पहला धर्म है, पर धर्म और समाज की कसौटी पर दान का भी अलग-अलग मूल्यांकन होना चाहिये। उसका महत्त्व मात्र इस बात पर नहीं होना चाहिये कि किसी ने लाख का दान दिया है तो महत्त्वपूर्ण हो गया और किसी ने हजार का दिया है तो वह गौण बन गया। दान का महत्त्व मात्र वित्तीय नहीं अपितु नैतिक दृष्टि से आंका जाना चाहिये। दान अधिक है या कम, इसका महत्त्व नहीं होना चाहिये। हाँ, चित्त की चेतना कैसी है, यह खास बात है। किसी भय, आतंक, कुछ पाने की लालसा, यश-कामना से दिया गया अथवा प्रतिस्पर्धा से दिये गये विपुल दान की अपेक्षा निष्काम, निरहंकार चित्त से दिया गया आंशिक दान भी श्रेष्ठ है।

उपवास और तपस्या जीवन में आवश्यक है। इनसे शरीर स्वस्थ होता है और मन संयमित। पर मन में भोजन रमता रहे, तो उपवास हीन कोटि का हो जाता है। उपवास करने वाला अगर शील-सदाचार से हीन है, तो उसका उपवास भला किस काम का? धर्म, व्रत, तपस्या इन सबका सम्बन्ध मात्र बाह्य ही तो नहीं है। व्रत-तपस्या वास्तव में मन को संयमित, निग्रहित और सबल करने के लिए है।

अगर हम माला को ही लें तो माला मात्र यन्त्रवत् एक अभ्यास बनकर रह गयी है। जब दिन भर में बीस मालाएँ गिननी हैं तो आदमी का ध्यान मंत्र के प्रति नहीं अपितु मात्र संख्या के प्रति अटक जाएगा। चाहे मंत्र गलत बोला जा रहा है, इसकी उसे परवाह नहीं पर बीस मालाएँ पूरी गिन ली जायँ। मंत्र का उपयोग मन को एकाग्र करने के लिए था जबकि हमने उसे केवल संख्या से जोड़ दिया। अब लोग सवा करोड़ मंत्र का अखण्ड जाप करवाते हैं। उन्हें कहो कि मात्र संख्या से ही जुड़े रहे तो सवा करोड़ नहीं बल्कि सवा अरब दफा भी जाप करा लोगे तब भी हाथ कुछ नहीं लग पाएगा!

एक नवकार मंत्र के जाप से ही अमर कुमार की शूली सिंहासन में बदल गयी और हम संख्या के फेर में व्यर्थ ही भटक रहे हैं। विचारणीय है कि आखिर ऐसा क्यों होता है? हम मंत्र की आत्मा को न समझ पाये, या संख्याओं पर टिक गये। 'णमो अरिहंताणं' तो अब तक लाखों दफा जप लिया पर अपने अन्तर में अरिहंत की आभा अवतरित न कर पाये। हमने माला को तो इतना सस्ता बना लिया है कि जब समय मिले तब माला। कुछ औरतें तो प्रवचन सुनते-सुनते ही मालाएँ गिन लेंगी। अब मजे की बात यह है कि उन्होंने प्रवचन सुनना भी पुण्यकारक मान लिया है। उनके दिमाग में यह बात घर कर गयी है कि प्रवचन सुनने से पुण्य होता है, माला जपने से पुण्य होता है। अब जब पुण्य के लिए ही प्रवचन सुनना है, तो यह बात गौण हो जाती है कि प्रवचन कान के भीतर भी जा रहा है या नहीं। एक घंटे में कितने पुण्य एक साथ कमाने की कोशिश चलती है, प्रवचन सुन लेंगे, इसी दौरान सामायिक कर लेंगे और प्रवचन सुनते-सुनते ही माला भी जप लेंगे और नींद लेंगे सो अलग।

मेरे प्रभु! धर्म को इतना रूढ़ तो मत बनाओ। प्रवचन सुनने से पुण्य नहीं होगा। हाँ, सुनकर जीवन रूपांतरण करने से कल्याण अवश्य होगा, जो शायद न करने की हमने कसम-सी खा रखी है। बस एक रूढ़ परम्परा चल रही है और उसी का परिणाम इन प्रवचनों की प्रभावनाएँ। अब तो प्रवचनों के बाद सिक्के बांटने,

लड्डू बांटने और तो और बिस्कुट के पैकेट तक बांटने की परम्परा चल रही है। इसे हम प्रभावना का नाम दे देते हैं। मेरी नजर में प्रवचन के बाद लड्डू बांटना प्रभावना नहीं होगी। हाँ, अगर प्रवचन से जीवन प्रभावित हो जाएगा, भीतर की कली खिल जायेगी तो यह प्रभावना अवश्य होगी।

कल एक महानुभाव पूछ रहे थे, 'आप ज्ञान-पूजा, गुरु-पूजा में रुपये क्यों नहीं चढ़ाते हैं।' मेरे प्रभु! रुपये चढ़ाते-चढ़ाते तो आप बूढ़े हो गए। कितना ज्ञान पा सके आप? मुझे पूछो तो रुपये चढ़ाने से कभी ज्ञान नहीं आ पाएगा। घर में बैठकर प्रतिदिन दस-पन्द्रह मिनट स्वाध्याय करो, जो तुम्हारी सबसे बड़ी ज्ञान की पूजा होगी।

धर्म को धन के प्रलोभन से जितना दूर रखोगे, उतना ही अच्छा है। और मजे की बात तो देखिये। मैंने देखा कि एक आचार्य महाराज के यहाँ एक व्यक्ति ने ज्ञान-पूजा करने के लिए जेब से रुपये निकाले। देखा कि सबसे ऊपर पाँच सौ का नोट था। उसने उसे नीचे दबाया। फिर सौ-सौ के नोट थे। उन्हें भी नीचे धकेल दिया। फिर पचास के नोट आये, वे भी धकेल दिये गये। उसने महाराज और रुपये दोनों में मूल्यांकन करना चाहा। वह कहने को भले ही 'गुरु महाराज' कह दे, पर पचास का नोट निकाल नहीं पाया। फिर बीस के नोट वे भी नीचे गये और उसने दस का नोट निकाला और थाली में चढ़ा दिया। मैं पास में खड़ा-खड़ा उसके मन को पढ़ रहा था। वह चढ़ाता तो पाँच का ही नोट पर ऐसा नहीं कर पाया, शायद इससे कम का उसके पास न होगा। धर्म मूल्यवान है। धर्म को धर्म रहने दीजिए। वह कभी धंधा न हो जाए।

अभी कुछ दिन पहले मद्रास के एक महानुभाव मेरे पास बैठे थे। और भी लोग बैठे थे मेरे पास में। बात बात में एक व्यक्ति ने कहा- 'साहब, मैं अभी कुछ दिन पहले अमुक आचार्य महाराज के दर्शन करने गया। मैंने तीन दफा 'वंदना' कहा, पर महाराज ने तो धर्मलाभ तक न दिया।' अब मैं भला उन्हें क्या कहता, मैंने कोई जवाब नहीं दिया। हाँ, उस समय मद्रास के जो महानुभाव मेरे पास बैठे थे, जो शायद बड़े-बड़े आचार्यों से मिलने के अभ्यस्त थे। उन्होंने कहा, 'भैया, तुम्हें आचार्यों से मिलना नहीं आता। सीधे सौ का नोट उनकी थाली में डाल देते, फिर तो कैसे भी आचार्य महाराज क्यों न हों, दस मिनट तुम्हें अवश्य दे देते।' मैंने सोचा, 'आखिर गृहस्थ वर्ग में ऐसी भावना क्यों घर करती जा रही है।' अगर यह सच है तो धर्म की इससे ज्यादा दयनीय हालत और क्या होगी! आखिर कब तक खरीद-फरोख्त होती रहेगी धर्म की धन के हाथों में पड़ कर।

अब एक नया शब्द चला है हमारे यहाँ जो है 'गुरु-द्रव्य'। मैंने जैनों के किसी प्राचीन ग्रन्थ में इसका उल्लेख नहीं देखा। काफी वर्ष पूर्व वाराणसी में जब एक विद्वत्संगोष्ठी में मैं भी था तो इस शब्द की चर्चा चल पड़ी थी। विद्वानों ने इसे जैन-परम्परा में अपवाद शब्द माना। अब भला जैन-गुरु जो निर्ग्रन्थ होते हैं, श्रमण होते हैं, उनके नाम के साथ धन का क्या सम्बन्ध?

मैं इसीलिए कहता हूँ कि सबसे पहले दर्शन-विशुद्धि आवश्यक है, ताकि आप सत् को सत् और असत् को असत् रूप में पहचान सकें।

एक बात पक्की है कि जीवन का रूपांतरण बाहर से नहीं, भीतर से ही होता है। अगर ऐसा हुआ तो फिर मास-क्षमण करने वाला तपस्वी कभी क्रोध करता हुआ दिखाई नहीं देगा। केवल बाहर से रूपांतरण हुआ तो

केश लोचन करने वाला, भभूत रमाने वाला साधक वृत्तियों से मुक्त नहीं हो पाएगा। अपने को भीतर से बदलने की तो बात ही और है। बाहर के परिवर्तन से ही रूपांतरण हो जाता तो हिमालय की कन्दराओं में वर्षों से तपस्या करने वालों के भीतर क्रोध की चिंगारियां नज़र नहीं आतीं।

महावीर ने संसार छोड़ा था तो किसी नियमबद्ध चारित्र-पालन के लिए नहीं छोड़ा था। उन्होंने सत्य की खोज के लिए संसार छोड़ा था। भीतर के कचरे को साफ करने के लिए संसार त्यागा था। एक व्यक्ति ऊपर से तो बहुत से पुण्य करता है, लेकिन भीतर से पाप करता है, तो जरा विचार करें कि ऐसा व्यक्ति पुण्यात्मा है या पापात्मा? आदमी के गलत कृत्य उसका पीछा नहीं छोड़ते। मन से जो भी गलत काम किया जाता है, वह 'पाप' कहलाता है, जबकि शरीर से होने वाला 'अपराध' कहलाता है।

महावीर पहले मन को निर्मल करने की बात करते हैं। चित्त को प्रक्षालित करने की बात कहते हैं। वे सबसे पहले अपने को भीतर से साफ करने पर जोर देते हैं। व्यक्ति भीतर से साफ-सुथरा होगा तो ऊपर से वैसा स्वतः ही बन जाएगा। लेकिन हम तो बाहरी चमक-दमक पर ध्यान देते हैं। बाहर से तो सजावट कर लेते हैं, लेकिन भीतर का कचरा साफ नहीं करते। भीतर से परिवर्तन करने की गुंजाइश जब तक नहीं होगी, ऊपर की सजावट मात्र लीपापोती होगी।

कबीर, मीरा, रैदास आदि के उदाहरण लीजिये। ये सब भीतर से बदल गए थे। ऊपर से तो देखकर कोई उन्हें संत कह ही नहीं सकता था, क्योंकि वे अपनी ही धुन में चलते थे। कबीर-रैदास और राजचन्द्र कभी साधु नहीं बने होंगे। मगर उन्होंने साधुत्व का ही जीवन जीया। वे सब भीतर के परिवर्तन की गुंजाइश लेकर चलते थे। बंधन कभी बाहर से नहीं होते, भीतर से ही होते हैं। इसलिए चैतन्य के शिखर महावीर भीतर के परिवर्तन की बात करते हैं।

भगवान महावीर ने सबसे पहले सम्यक् दर्शन पर जोर दिया, यानी नजरों को साफ-सुथरा करना। साधना के सारे आयाम भावना के ऊपर हैं। अगर व्यक्ति के भाव ही कलुषित हैं तो जीवन कलुषित होगा ही। एक बिल्ली जब चूहे को मुँह में दबाकर चलती है तो चूहा चीं-चीं करता है। वही बिल्ली अपने बच्चे को मुँह में दबाती है तो वह चूँ भी नहीं करता। यहाँ भी भाव का अंतर है। चूहा जानता है कि उसका अंत समय आ गया है, इसलिए वह चीं-चीं करता है, जबकि बिल्ली का बच्चा जानता है कि मेरी माँ मुझे कहीं बचाने के लिए लेकर जा रही है, इसलिए उसने मुझे मुँह में पकड़ा है।

दोनों मामलों में भिन्न-भिन्न भाव होने के कारण वहाँ अलग-अलग चित्र सामने आते हैं। इसलिए कहते हैं कि मनुष्य के कृत्य भावों पर अधिक निर्भर करते हैं। अगर भावों की विशुद्धि है तो आदमी अपने आप को कहीं भी उबार लेगा और यदि भाव विशुद्ध नहीं है, तो राख पर लीपा-पोती ही होती रहेगी। इसलिए सबसे पहले अपने को भीतर से पवित्र करो।

आदमी की प्रकृति ऐसी है कि वह अपनी कमजोरियों को नहीं देख पाता। उसे हमेशा दूसरों में दोष ही दिखाई देते हैं। आदमी ने काला चश्मा आंखों पर चढ़ा रखा है, इसलिए उसे दूसरों के 'कलुष' ही दिखाई देते



हैं। उसे अपने 'कलुष' तो नजर आते ही नहीं, क्योंकि वह अपने भीतर देखता ही नहीं है। वह जान-बूझकर इससे विमुख रहता है। हम अपने विचारों को कदम-कदम पर कलुषित करते चले जाते हैं। अगर हमारा अन्तर्-अस्तित्व कलुषित हो रहा है, तो बाह्य वैभव जीवन की सांध्य वेला में हमारे सामने प्रश्न-चिह्न बनकर खड़ा हो जाएगा।

सड़क पर लड़का-लड़की एक साथ जा रहे हों तो हर देखने वाला उनके बारे में अलग-अलग धारणा बनाएगा। प्रायः उसका निष्कर्ष यह होगा कि यह लड़का इस लड़की को पटाकर कहीं ले जा रहा है, जबकि वे दोनों वास्तव में भाई-बहिन होते हैं। यह हमारा दुर्भाग्य है कि हम गंदगी से ऊपर उठने का प्रयास भी नहीं करते। किसी गलत से गलत तत्त्व में भी कोई अच्छाई हो सकती है। उसके बारे में गलत-सही किसी भी तरह की प्रतिक्रिया हो सकती है।

दूसरों को कुछ कहने की बजाय हम अपने गिरेबान में झाँकें। अपना चेहरा कितना कलुषित है, इस ओर नजर डालें। जब तक भीतर का कल्मष साफ नहीं करेंगे, तक तक हमारे कृत्य पवित्र नहीं हो पाएंगे। जिस दिन इस पर लगा ढक्कन उठ गया, भीतर की गंदगी की दुर्गन्ध बाहर आ जाएगी।

मात्र बाहर का परिवर्तन सार्थक परिणाम न दे पाएगा। ऐसे लोग भी हुए हैं कि ऊपर से तो वे राज-सिंहासन पर बैठे, लेकिन भीतर से उनमें साधुत्व घटित हो गया। महाराज भरत भगवान ऋषभदेव के पुत्र थे। कहते हैं कि एक दिन धर्म सभा में भरत ने भगवान से पूछ लिया कि 'प्रभु मेरी गति क्या होगी?' भगवान ने कहा- 'पुत्र, तू मोक्ष को प्राप्त होगा।' सभा में एक मनचला भी बैठा था। उसने व्यंग्य किया- 'वाह! यह भी खूब रही! पिता मोक्ष देने वाले और पुत्र मोक्ष प्राप्त करने वाला।' भरत ने उसे देखा तो चुपचाप बैठे रहे। अगले दिन उन्होंने उस व्यक्ति को दरबार में बुलाया। उन्होंने उससे कहा कि 'मैं चाहता हूँ, तुम पूरा नगर घूम कर आओ और वापस आकर नगर के सौन्दर्य का वर्णन करो। तुमको उचित इनाम दिया जाएगा। वह व्यक्ति बड़ा प्रसन्न हुआ।

भरत ने सैनिकों को इशारा किया। सैनिकों ने उस व्यक्ति के सिर पर तेल से भरा एक कटोरा रख दिया। भरत ने चेतावनी दी कि यदि कटोरे से तेल की एक बूंद भी गिर जाए, तो इस व्यक्ति की गर्दन काट दी जाए। अब वह व्यक्ति घबराया। वह कटोरा सिर पर रखकर पूरा नगर घूम आया। उसकी खुशकिस्मत रही कि तेल की एक भी बूंद नहीं गिरी। उसने दरबार में आकर चैन की सांस ली।

राजा ने उससे पूछा कि 'तुम पूरा नगर घूम आए, बताओ कैसा लगा हमारा नगर?' उस आदमी को तो अपनी जान की पड़ी थी। वह बोला- 'महाराज! मेरा सारा ध्यान तो कटोरे में भरे तेल की तरफ था। नगर में क्या है, यह मैं कब देखता?' भरत ने उसे समझाया- 'भाई! कल तुम ही तो कह रहे थे कि पिता मोक्ष देने वाले, पुत्र मोक्ष लेने वाला। इसका जवाब यही है। मैं इस राज-सिंहासन पर जरूर बैठता हूँ, मगर मैं इससे बहुत ऊपर उठा हुआ हूँ। मेरा लक्ष्य राज-सिंहासन नहीं अपितु आत्म-सिंहासन है।'

जो व्यक्ति अपने आपको धुरी पर कील की तरह स्थिर बनाए रखता है, वह भले ही धुरी पर घूमता रहे, उसकी कील तो स्थिर ही रहेगी। जिस व्यक्ति को आत्मा की चेतनता का ख्याल है, वही श्रमण है। शेष का तो

केवल चोला बदला है। अगर आत्मा का ज्ञान नहीं हुआ, तो आदमी भले ही सारी जिन्दगी साधना करते-करते बिता दे, कहीं कोई सार्थक परिवर्तन उसके जीवन में नहीं आएगा। उसकी नजरें संसार की ओर ही लगी रहेंगी। वह भरत नहीं बन पाएगा, जो संसार में रहते हुए भी शिखर की ओर देख सकता है।

अब जरा चिंतन करें, शिखर पर कौन और संसार में कौन? अगर आदमी शिखर पर बैठकर भी नजरें संसार पर रखता है, तो उसमें और गिद्ध में क्या अंतर है? गिद्ध भले ही कितना ही ऊँचा उड़े, उसकी नजरें तो नीचे मांस के टुकड़े पर ही रहती हैं। कहने को तो वह आकाश में उड़ता है, मगर रहता वह जमीन पर ही है। इसलिए भगवान महावीर दर्शन की विशुद्धि पर जोर देते हैं। वे सम्यक् दर्शन के उपार्जन पर जोर देते हैं।

भीतर जब तक विशुद्धि नहीं होगी, गंदगी साफ नहीं होगी, हम बाहर से भले ही स्वयं को वीतरागी घोषित कर दें, हमारा राग-द्वेष जीवित रहेगा। महावीर अगर चाहते तो खुद को गृहस्थी तीर्थंकर घोषित कर सकते थे, लेकिन उन्होंने ऐसा नहीं किया। उन्होंने पूरी तरह परिवर्तन में विश्वास किया। मुनि बनने के बाद उन्होंने सबसे पहला काम भीतर की विशुद्धि का किया।

केवल बाहर के परिवर्तन का परिणाम यह होता है कि भीतर कोई परिवर्तन नहीं आ पाता। ऐसा आदमी मंदिर में जाकर प्रार्थनाएँ कर लेगा, मिठाइयाँ व फल भी चढ़ा देगा, मगर उसके मन में परमात्मा नहीं होंगे। हम हर समय संसार में ही जीते हैं। हमारे भीतर तो संसार ही घूम रहा है। वही कामनाएँ, वासनाएँ, तृष्णाएँ भीतर सिर उठाती रहती हैं। यूँ भी चौबीस घंटे संसार में जीने वाला व्यक्ति आधे-एक घंटे के लिए मंदिर जाता है और इस अवधि में भी वह संसार से ऊपर नहीं उठ पाता।

मंदिर जाने मात्र से ही हमारे भीतर भगवत्ता का फूल न खिल पायेगा। मंदिर में चले गये और मन मंदिर न बना, तो जाने की क्या सार्थकता होगी? शिवालय में जाना तभी सार्थक होगा, जब तुम शिवत्व को उपार्जित करो। तुम्हारा मन शिव-सुन्दर बन जाये। मंदिर में मूर्ति के दर्शन से श्रद्धा, सौम्यता और चित्त की एकाग्रता उपलब्ध होनी चाहिये। मंदिर में प्रतिमा निहारो खुली आँखों से और फिर उसी को निहारो अपने अन्तर में बंद आँखों से। प्रतिमा में जिसे तुम निहारना चाहते हो, वह तुम्हारे भीतर है। अगर ऐसा कुछ नहीं होता है और सिर्फ मत्था टेकने ही मंदिर जा रहे हो तो मंदिर तो जिंदगी भर चले जाओगे, मत्था भी टेक लोगे, पर निज के 'जिन' को न पहचान पाओगे।

महावीर के पास गौशालक भी आया था और गौतम भी आए थे, लेकिन दोनों में बहुत अंतर था। अगर महावीर के पास जाने मात्र से ही किसी का भला होता, तो गौतम ही क्यों, गौशालक का भी बदलाव होता, मगर ऐसा नहीं हुआ। यह तो उनके भीतर की प्यास थी, जिसने गौतम को कहाँ से कहाँ पहुँचा दिया। गौशालक वहीं रह गया। कृष्ण का सामीप्य तो युधिष्ठिर ने भी पाया और दुर्योधन ने भी पाया, मगर दोनों की जो गति हुई, सभी जानते हैं। हम कितने भी ऊँचे आदमी, महापुरुष के पास चले जाएँ, जब तक हम स्वयं अपनी नजरों को पवित्र नहीं करेंगे, तब तक वहाँ से भी बुराइयाँ-ही-बुराइयाँ ढूँढते रह जाएंगे और अपने जीवन में कोई परिवर्तन नहीं कर पाएँगे।

नजरें पवित्र कर लीं तो छोटे-से-छोटे आदमी के पास जाकर भी हम परिवर्तन की डगर पर चल सकते हैं। इसलिए सबसे पहले दर्शन-विशुद्धि हो। दर्शन विशुद्ध हो गया तो ज्ञान विशुद्ध होगा और फिर चरित्र की विशुद्धि होगी। इसके बाद की यात्रा मोक्ष की है। ये तीनों सध जाने पर आदमी की निर्वाण की यात्रा शुरू होगी। अन्यथा ज्ञान और चरित्र तो पा लेंगे किन्तु दर्शन की विशुद्धि नहीं हो पाएगी। कोई भी चीज दो डंडों पर नहीं टिकती, उस के साथ एक और डंडा लगाना पड़ेगा। तभी वह तिपाही बनेगी।

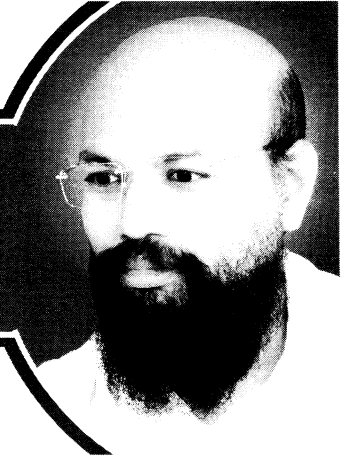
परिवर्तन तो बाहर और भीतर दोनों का जरूरी है। यह संतुलन परम आवश्यक है। अकेला नेत्रहीन भी कुछ नहीं कर सकेगा और न पंगु भी कुछ कर पाएगा।

एक बार जंगल में आग लग गई थी। उसमें एक नेत्रहीन और एक पंगु फँस गए। अब बचें कैसे? उन्होंने हाथ मिलाया और पंगु नेत्रहीन के कंधे पर बैठ गया। उसने नेत्रहीन को रास्ता बताया और वे दोनों तुरंत ही जलते हुए जंगल से बाहर निकलने में सफल हो गए। यदि वे दोनों हाथ नहीं मिलाते, तो दोनों ही आग से बच कर बाहर नहीं निकल पाते। एक पहिये से रथ कभी नहीं चल सकता और दो बेमेल पहिये भी काम नहीं आ सकते। वहाँ भी संतुलन रहना जरूरी है।

महावीर ने कहा था कि 'सबसे पहले दर्शन की विशुद्धि करो, फिर ज्ञान में उतरो और बाद में चारित्र को जीवन में उतारो।' यह क्रम सही रहेगा तो मोक्ष के मार्ग पर कदम बढ़ा सकोगे। केवल ज्ञान भी काम नहीं आ सकेगा क्योंकि सम्यक् ज्ञान भी जरूरी है, तभी तो वह जीवन का आचरण बन पाएगा। अन्यथा स्वाध्याय तो हम खूब कर लेंगे, लेकिन यदि वह जीवन में, आचरण में नहीं उतरा तो बेकार है। साधना के तीन सूत्र हैं- सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र।

पहले भीतर से अपने को निर्मल करो। फिर सब कुछ स्वतः ही निर्मल होता चला जाएगा। भीतर कुंठा है तो बाहर भी कुंठा ही आएगी। भीतर सुगंध है तो उसकी सुवास बाहर भी फैलेगी। सत्य को तो जानो ही, असत्य को भी समझो। जब तक असत्य से रू-ब-रू नहीं होओगे, तब तक सत्य के निकट कैसे पहुँचोगे? अज्ञान को समझकर ही ज्ञान की प्राप्ति की जा सकती है।

# स्थिति: शुद्धि और मुक्ति



एक सूफी फकीर अपनी कुटिया में सोया था। उस रात उसने एक विचित्र स्वप्न देखा। स्वप्न में उसने देखा कि उसकी कुटिया से कोई छः किलोमीटर दूरी पर एक नदी है। नदी पर पुल है। पुल पार करें तो एक खंभा नजर आता है। इस खंभे के नीचे अपार धन-सम्पदा छिपी है। फकीर की आँख खुल गई। ऐसा सपना उसने पहले कभी नहीं देखा था। उसने कुछ सोचा, पर फिर उसे एक सामान्य स्वप्न मानकर वह सपने को भूल गया।

पर आश्चर्य, अगली रात उसे फिर वही स्वप्न आया कि उसकी कुटिया से कोई छः किलोमीटर दूरी पर एक नदी है। नदी पर पुल है। पुल पार करें तो एक खंभा नजर आता है। इस खंभे के नीचे अपार धन-सम्पदा गड़ी है। और फिर उसकी आँख खुल गई। वह बहुत बैचैन हो गया। तीसरे दिन उसे फिर वही स्वप्न आया तो उससे रहा नहीं गया। अगली सुबह वह उठते ही कुटिया से चल पड़ा।

करीब छः किलोमीटर दूर उसे नदी नजर आई। वहाँ उसने देखा कि स्वप्न में उसे जैसा खंभा दिखाई दिया था, वैसा ही खम्भा वहाँ था। वह खंभे तक पहुँचा पर उस खंभे के नीचे एक सैनिक बैठा था। फकीर की हिम्मत नहीं हुई कि वह खंभे के नीचे गड्ढा खोद कर स्वप्न में देखा धन निकाल सके। फकीर वहाँ से लौट आया। अगले दिन वह फिर गया, मगर सैनिक वहीं बैठा नजर आया। पांच दिन बीत गए। फकीर वहाँ जाता और सैनिक को बैठे देखकर लौट आता।

छठे दिन उस सैनिक ने फकीर से पूछ ही लिया-‘फकीर साहब! आप पिछले पांच दिनों से यहाँ आ रहे हैं और मुझे देखकर लौट जाते हैं। आखिर बात क्या है?’ फकीर पहले तो सकुचाया पर सैनिक के आग्रह करने पर

बोला- 'मुझे पिछले कुछ दिनों से लगातार एक स्वप्न आ रहा है कि इस खंभे के नीचे अपार धन गड़ा है। मुझे स्वप्न की सच्चाई का पता लगाना है।'

सैनिक पहले तो हँसा, फिर उसने कहा- 'हम दोनों एक ही नाव के सवार हैं। मुझे भी पिछले कई दिनों से एक स्वप्न आ रहा है कि यहां से छः किलोमीटर दूर एक फकीर की कुटिया है। कुटिया में फकीर की चारपाई के नीचे बहुत सा धन गड़ा है।' सैनिक की बात सुनकर उस फकीर को जैसे आत्म-बोध हो गया। वह कुछ न बोला और अपनी कुटिया की ओर लौट गया यह सोचकर कि जिसकी तलाश में मैं यहाँ तक आया, वह तो वहीं है, जहाँ से मैं रवाना हुआ था।

हमारे साथ यही हो रहा है। हम जिस सम्पदा को संसार में ढूँढ रहे हैं, वह हमारे स्वयं के भीतर ही है। तुम जहाँ हो, तुम्हारी सम्पदा वहीं है। आखिर तुम्हारी सम्पदा तुम्हारे ही पास है। लेकिन हमारे लिए दुर्भाग्य की बात यही है कि हम लोग अपनी आत्म-सम्पदा की तलाश दुनिया में करते हैं।

मेरी नजर में सम्पूर्ण सृष्टि में सर्वाधिक मूल्यवान हमारा चेतन तत्त्व है परन्तु पदार्थों के संयोग से इसकी विकृति सृष्टि का विनाश है और इसकी संस्कृति सृष्टि का विकास है। आत्मा के अभाव में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड अपने आप में प्रश्नचिह्न है। भला बिना विद्युत् के मशीनों की क्या उपयोगिता? चेतना है तो सब कुछ है; और चेतना के अभाव में न मनुष्य है, न पशु-पक्षी, न कीट-पतंगे हैं और न ही वृक्ष-पर्वत-नदियाँ, कुछ भी नहीं। ब्रह्माण्ड का अस्तित्व ही चेतना के सहारे टिका है।

साधना के मार्ग में आत्म-सम्पदा ही सर्वाधिक मूल्यवान है। जो स्वयं को नहीं पहचान पाया, अपने भीतर के रहस्य की तलाश न कर पाया, भला उसने सब कुछ पाकर भी क्या पाया? जैसे- बिना स्वर और व्यंजन के बोध के भाषा का बोध नहीं हो सकता वैसे ही बिना आत्म-प्रतीति किये साधना के मार्ग में क्या कोई आज तक बढ़ पाया है?

मनुष्य-जाति युगों-युगों से दो धाराओं में बहती आई है- एक मनुष्य-चेतना की बहिर्मुखी धारा और दूसरी अन्तर्मुखी धारा। बहिर्मुखी धारा संसार है और अन्तर्मुखी धारा साधना। जब तक हमारा व्यक्तित्व अन्तर्मुखी नहीं हो जाता है तब तक साधना अधूरी मानी जायेगी। भले ही वेश का रूपान्तरण हो गया, दीक्षा के नाम पर बदल गया, घर बदल गया, रहने-जीने के तौर-तरीके बदल गये, व्रत तपस्याएँ भी कर ली गईं, पर हम भीतर को न पहचान पाये, भीतर के भगवान के दर्शन न कर पाये, तो यह सब कुछ व्यवहार संयम भले ही हो जाये, परन्तु परमार्थ संयम शायद नहीं होंगे। अगर अन्तर की तलाश की प्यास न जगी तो बाहर के क्रिया-काण्ड क्या परम सत्ता को उपलब्ध करा पायेंगे?

मैं यह नहीं कहता कि जीवन की व्यावहारिकता का शुद्धिकरण न हो। वह तो होना ही चाहिये, पर मात्र लोक-प्रतिष्ठा के लिए व्यावहारिक धर्मों को निभाना और अन्तर में जागरूकता की कोई दस्तक भी न दे पाना शायद साधना के मार्ग में उचित नहीं कहा जा सकता। भले ही वेश रूपान्तरण के कारण कहने भर को तुम्हारा गुणस्थान बढ़ गया हो, पर यदि भीतर से सम्यक्त्व का उपार्जन नहीं कर पाये, तो मेरे प्रभु! गुणस्थान में बढ़ोतरी

वेश नहीं करवाता अपितु चेतना के शुभ परिणाम करवाते हैं। एक साधु भी अगर बहिर्मुखी धारा से जुड़ा है तो वह सब कुछ करते हुए भी चेतना के स्तर का स्पर्श नहीं कर पायेगा। वह एक पाँव पर खड़ा होकर बारह वर्ष तक साधना कर लेगा, वृक्ष पर उल्टा लटक कर भी साधना कर लेगा, भभूत भी रमा लेगा, सफेद-पीले-नीले कपड़े भी बदल लेगा, लेकिन बिना सम्यक् दर्शन के, बिना चेतना के रूपान्तरण के वह भव-भव भटकता ही रहेगा।

आदर्यु आचरण लोक उपचार थी, शास्त्र अभ्यास पण कांई कीधो।

शुद्ध श्रद्धा न वली आत्म अवलंब विनुं, तेहवो कार्य तेणे को न सीधो॥

उपाध्याय देवचन्द्र ने यह बात बड़ी गहरी कही। कुंदकुंद, आनंदघन, देवचन्द्र जैसे स्पष्ट वक्ता जैनों में बहुत कम हुए हैं। 'आदर्यु आचरण लोक उपचार थी,' लोकव्यवहार में कहने भर को संयम का आचरण किया, शास्त्रों का पठन-पाठन भी कर लिया, लेकिन इतना सब कुछ करके भी अगर आत्म-रूपान्तरण न हो पाया, आत्म-अवलम्बन नहीं पाया, तो भला क्या कर पाये? देवचन्द्र का यह वचन उन सब लोगों के लिए टीस भरी सिखावन है, जो मात्र व्यवहार में जीकर न केवल औरों को अपितु स्वयं को भी भ्रमित करते हैं।

अगर मुनित्व के बाने में जीने वाला व्यक्ति भी बहिर्मुखी धारा में जी रहा है, तो संसार से वस्तुतः उसका अलगाव कहाँ हुआ है? बहिर्मुखी धारा में तो सारा संसार बह रहा है, पूरी दुनिया बह रही है, भीड़ मिलेगी इस मार्ग पर। पर मेरे प्रभु! अन्तर्मुखी धारा में तो गिने-चुने लोग ही मिलेंगे। लाखों में एक ऐसा साधक मिलेगा, जो बहिरात्मपन से अन्तरात्मा में प्रवेश कर चुका हो। वही तो संसार में शिखर पुरुष होता है। इस सृष्टि में पता नहीं, अब तक कितने खरबों-खरब-असंख्य इंसान हुए हैं, लेकिन बहुत थोड़ी संख्या में ऐसे लोग हुए हैं जो अपनी चेतना को उपलब्ध होकर सम्बुद्ध हो गये हों। राम-कृष्ण, महावीर-बुद्ध, ईसा-सुकरात जैसे महापुरुषों की सूची बनाना चाहो तो यह संख्या सैकड़ों-हजारों में ही सिमट कर रह जायेगी, लेकिन ऐश-आराम और सुख-वैभव में जीने वाले अनगिनत लोग मिल जायेंगे।

बहिर्मुखी धारा संसार है और अन्तर्मुखी धारा साधना। सिकंदर संसार का प्रतीक है और महावीर साधना के प्रतीक हैं। सिकंदर के मार्ग में भीड़ मिल जायेगी, पर महावीर का मार्ग ऐसा है जिसमें न भीड़ है और न भेड़ें।

मेरे प्रभु! अन्तर के साम्राज्य पर वही व्यक्ति आधिपत्य कर पायेगा, जिसने अपनी ऊर्जा को अन्तर्नियोजित करने के लिए दृढ़-संकल्प कर लिया है। जब तक ऊर्जा अन्तर्नियोजित नहीं होती है, तब तक ऊर्जा का सिवाय अपव्यय के और कुछ नहीं हो सकता। मनुष्य ऊर्जा का स्वामी है और यदि ऊर्जा उससे च्युत होती है तो स्वामित्व भी खो जाता है।

आवश्यकता है कि हम अपनी ऊर्जा, आत्म-सम्पदा की पहचान करें। कहीं ऐसा न हो कि हमारे भीतर अपार खजाना छिपा हो और हम बाहर से भिखारी बने घूम रहे हों। हम मात्र पुजारी ही नहीं हैं। अगर हमारी आत्म-चेतना जागृत हो जाये तो पुजारी ही पूज्य बन जाता है। महावीर का उपासक होना अलग बात है और स्वयं में छिपे हुए महावीरत्व को पहचानना अलग बात है।

आत्म-बोध के अभाव में हमारी पूरी जिंदगी एक भ्रमजाल में फंसी रह जाती है। धर्म के नाम पर सब कुछ हो जायेगा, पर 'बिन श्रद्धा भव भटके' वाली बात लागू रहेगी। दुनिया भर के तीर्थ कर आओगे। मक्का-मदीना, ब्रदीनाथ-केदारनाथ, पालीताना-सम्मेत शिखर, सब जगह जाकर भी वहाँ वास्तविक उपलब्धि शायद नहीं कर पाओगे। हम सोये-सोये जाएँगे और वापस वैसे ही लौट आएँगे। ऐसा लगता है मानो तीर्थ-यात्रा के नाम पर हम मात्र पर्यटन-घूमने-फिरने के लिए ही निकले हों। परमात्म-दर्शन, तीर्थ-यात्रा वास्तव में आत्म-दर्शन/आत्मप्रतीति के लिए है ताकि तीर्थों के पवित्र वातावरण में जाकर हम अपने-आपको अन्तर्मुखी बना सकें। अन्यथा-

मक्का किया, हज किया, बनके आया काजी।

आजमगढ़ में जब से लौटा, फिर पाजी का पाजी।

लोग बातें करते हैं कि मैंने सपने में पालीताना तीर्थ के दर्शन किए। कोई कहता है कि मुझे सम्मेत शिखर नजर आया। ये सभी स्वप्न आँख खुलते ही आदमी को जमीन पर ले आते हैं। असल में तो परमात्मा की आभा तुम्हारे अपने भीतर है, आप खुद एक आत्मा हैं। जिस परमात्मा की आभा आप स्वयं में छिपाये हुए हैं, उसे बाहर की बजाय भीतर ढूँढा जाना चाहिये। यदि सिक्का कमरे में गिरा है और आप उसे कमरे के बाहर जाकर ढूँढते हैं, तो आपसे बड़ा अज्ञानी और कोई न होगा।

सबसे चिंताजनक बात यह हो रही है कि हमारा अतीत जो आत्म-चेतना व आत्म-जाग्रति का संदेश देता था, उसे हमने बिसरा दिया। हमारे साथ धर्म और अध्यात्म के नाम पर मात्र बाहरी क्रियाकलाप, बाहरी आचरण जुड़ता जा रहा है। हमारा मूल अस्तित्व, मूल चेतना हमसे दूर होती जा रही है। आज उस साधक की शायद ही कोई महत्ता होगी, जो आत्म-चेतना की उपलब्धि के लिए गुफा में जाकर बैठा हुआ है। समाज में तो उनकी ही पूजा हो रही है जो व्यावहारिक रूप से सफल हैं।

निश्चित तौर पर धर्म-जगत् के लिए आज दुर्भाग्य की घड़ी है कि यहाँ वेश के साधु चाहे जितने मिल जायेंगे, पर जीवन के साधु विरल हैं! आत्म-वासी मुनि खोजने से न मिलेंगे। समाज को तो मात्र व्यावहारिकता से मतलब है, अगर उसमें निपुण हो तो धड़ल्ले से चलोगे। भले ही सिक्के छोटे हों पर अगर उनमें चमक है तो वे चलेंगे। जिस धर्म की नींच आत्म-दर्शन, आत्म-ज्ञान थी, आज वहाँ मात्र शासन-प्रभावना के नाम पर वह सब कुछ हो रहा है जो शायद किसी से छिपा नहीं है। माना कि तुम जीवन में कई प्रतिष्ठा-महोत्सव करा चुके हो, लाखों-लाख रुपये रंगीन पत्रिकाओं पर खर्च करा चुके हो, पर क्या स्वयं को स्वयं में प्रतिष्ठित कर पाये? प्रतिष्ठा-महोत्सव को मात्र प्रतिष्ठा बटोरने का साधन नहीं बनाना चाहिये, अपितु वीतराग प्रभु की वीतरागता को जीवन में प्रतिष्ठित करना चाहिये।

व्यावहारिकता को निभाने के नाम पर बाहर-भीतर के जीवन में फर्क रखना अपने आपको धोखा देना है। क्या एक मुनि का कर्तव्य मात्र लोकैषणा की पूर्ति ही है? क्या एक मुनि का कर्तव्य मात्र प्रतिष्ठाएँ, उपधान या संघ-यात्राओं का आयोजन करना भर है? अगर इन सबके चलते कुछ वक्त भी आत्म-साधना के लिए नहीं निकाल पाते हो तो ये सब कुछ आखिर है किसलिए? क्या कहीं कोई खबर है कि आखिर यह एषणा कहाँ ले

जाकर छोड़ेगी ? जब तक हमारा समाज त्याग और निर्ग्रन्थ के प्रतीक इन सन्तों-मुनियों को पैसा छापने की मशीन मानकर चलेगा, तब तक महावीर का वास्तविक त्याग सच्चा त्याग नहीं होगा अपितु वह त्याग के नाम पर भी वैभव-प्रदर्शन में ही सिमटा रहेगा ।

निश्चित रूप से महावीर महाप्रतीक हैं आत्मसाधना के, पर आज वह प्रतीक कितना सुरक्षित बचा है, यह एक विचारणीय प्रश्न है । आज हमने साधुत्व का सम्बन्ध मात्र वेश या बाह्य आचार-व्यवहार से ही जोड़ लिया है । अभी कुछ दिन पहले एक सज्जन कह रहे थे, 'साहब ! अमुक महाराज के क्या कहने ? बड़े व्यवहार-निपुण हैं । कई करोड़पति उनके पीछे चलते हैं । अभी उन्होंने अमुक शहर में प्रतिष्ठा करवाई, जिसमें ९-१० करोड़ की आमदनी हुई । मैंने कहा, 'भैया ये करोड़पति अपनी प्रतिष्ठा को बढ़ाने के चक्कर में इन त्यागी-तपस्वियों को रोड़पति बनाकर छोड़ेंगे ।' आज जिस समाज में मुनित्व की महानता मात्र पैसे की आमदनी से ही आंकी जाने लगी है, उस समाज का भविष्य अंधकारमय है । यह अपरिग्रह-धर्म पर कुठाराघात है ।

निर्ग्रन्थ-परम्परा का मूल आत्म-अनुसंधान है, अन्तर्-ग्रन्थियों से मुक्ति है । और अगर इसमें चूक हो रही है, तो खेदजनक है । चौबीस घंटे में अगर एक मिनट भी आत्म-साधना को समर्पित न कर पाये, तो चौबीस घंटे ही बेकार गये । कल एक व्यक्ति, जिन्हें स्वाध्याय में काफी रस है, कह रहे थे कि मैं अमुक आचार्य महाराज के पास अपने कुछ प्रश्नों का समाधान करने गया । मैं आचार्यजी से तो नहीं मिल पाया । हाँ, उनके शिष्य ने बताया कि वे अभी आराम कर रहे हैं अतः नहीं मिल पायेंगे । इतने में नगर के कोई दो-तीन धनपति आये । शिष्य ने उन्हें आचार्यजी तक पहुँचाया । वे करीब दो घंटे बात करते रहे । मैं भी तब तक वहीं बाहर बैठा रहा । जब वे धनपति चले गये तो मैंने आचार्य से बात करनी चाही, पर जवाब मिला 'उन्हें कहीं बाहर जाना है इसलिए बैठ नहीं पायेंगे ।' यह काफी आश्चर्य की बात है कि एक धनपति के लिए दो घंटे दिये जा सकते हैं पर एक आत्मार्थी को दो मिनट भी नहीं ! और यही कारण है कि हमारे समाज में हजारों साधु-साध्वी होंगे पर उनमें कितने ऐसे हैं जिनमें आनन्दघन या राजचंद्र जैसी आभा हो । आखिर परमार्थ-संयम से शून्य मात्र व्यवहार-संयम कितना कामयाब हो पायेगा-हमारी आत्म-प्रगति में ? आज अगर आनन्दघन जैसा योगी श्मशान-भूमि में साधना कर रहा हो और तुम कदाचित् उनके दर्शन करने पहुँच गये तो तुम्हें उस साधक की चैतन्य आभा दिखाई नहीं देगी । तुम तो यही कहोगे कि उनके सिर पर कमली तो है ही नहीं । तुम्हें साधना की बजाय कमली दिखाई दी । मात्र व्यवहार-संयम !

मुनित्व का सीधा-सा सम्बन्ध आत्म-रूपांतरण से है । बाहर का वेश रूपांतरित हो गया पर अगर 'भीतर' रूपांतरित न हुआ तो केवल बाहर के रूपांतरण से क्या लाभ होगा ? मैं व्यावहारिकताओं का विरोध नहीं करता । परमार्थ संयम को उपलब्ध करने में वे सहायक अवश्य हैं, पर कोरी व्यावहारिकता किस काम की ?

और मुसीबत तो यह है कि साधु भी आखिर क्या करे ? समाज में निश्चय ही कुछ भी कमी होगी तो चलेगी, पर व्यावहारिकता में कमी सहन नहीं होगी और अंगुलियाँ उठनी शुरू हो जायेंगी । और अंगुली भी ऐसे निरर्थक विषयों उठेगी पर जिनमें कोई तुक नहीं है । मूल धर्म में कितना हास या विकास हो रहा है, इसकी किसी को



परवाह नहीं है। समाज के लिए केवल व्यावहारिक धर्म ही धर्म बचा है। लोग कह देते हैं, 'अमुक साधु बिना कमली डाले बाहर निकल गया, अमुक साधु बिना डंडा लिये निकल गया या बिना मुंहपत्ती बोल गया या उसके उपाश्रय में टिफिन में भोजन आ गया।' मगर वे यह नहीं जानते कि कौन साधु है, जो अपने आप में सब कुछ प्राप्त कर चुका है। आत्मा में प्रवेश के लिए न तो दंड की जरूरत है और न ही भभूत की। लेकिन हमारी नजरें साधुत्व के केवल बाहरी रूप को ही देखती हैं। बाहर से सही सलामत नजर आने वाला आदमी ही हमें सर्वश्रेष्ठ लगता है। भीतर भले ही उसमें कल्मष भरा हो। ध्यान रखिये, आदमी जब तक बाहर और भीतर से एकरूप नहीं होगा, वह आत्म-चेतना को उपलब्ध नहीं कर पाएगा। ऐसे आत्मस्थ व्यक्ति को भले ही दुनिया में पागल समझा जाये, पर इस दुनिया में 'पागल' ही कुछ पा सकता है।

लोगों ने तो महावीर और बुद्ध को भी पागल समझा। उनके पीछे कुत्ते छोड़े, कानों में कीलें ठोक दीं। महावीर ने वस्त्र त्याग दिये और वे नग्न रहने लगे। उन्होंने दुनियादारी निभाना छोड़ दिया। उनका मानना था कि सारी दुनिया के पशु-पक्षी बिना कपड़ों के अपना काम चला सकते हैं, तो वे बिना कपड़े क्यों नहीं रह सकते? यही सोचकर वे कपड़े त्याग चुके थे और एक तरह से प्रकृति से अपना तादात्म्य कायम कर चुके थे। मगर दुनिया ने उस आत्मयोगी के व्यवहार को पागलपन ही समझा। इसलिए मैं कहता हूँ कि मात्र बाह्य आचार-व्यवहार पर ही जोर मत दो।

जो चीज जहाँ खोई है, उसे वहीं ढूँढो। दूसरी जगह वह नहीं मिलेगी। मृग कस्तूरी की खोज में इधर-उधर घूमता है, लेकिन वह यह नहीं जानता कि कस्तूरी तो उसकी नाभि में ही है। मनुष्य का भी यही हाल है। जिस चीज को वह बाहर तलाश रहा है, वह उसके स्वयं के भीतर है। यमुना को कौन समझाये कि कृष्ण की जो बंशी बज रही है, उसकी तान उसकी खुद की लहरों से ही निकल रही है। यमुना खुद बांसुरी की धुन सुनने को तरस रही है, लेकिन अपने भीतर की लहरों से उदासीन है।

ओ रम्भाती नदियाँ, बेसुध कहाँ भागी जा रही हो ?

बंशीरव तो स्वतः ही तुम्हारे भीतर है।

आत्मतत्त्व या परमात्मतत्त्व की तलाश भले ही सारे ब्रह्माण्ड में कर आओ, लेकिन वह वहाँ भी तब ही मिलेगा, जब हमारा व्यक्तित्व अन्तर्मुखी बन जाये। बिना मूल के छाया कैसे मिलेगी? मूल का तो पता ही नहीं और छाया को पकड़ने चले।

एक होती है गा-गाकर परमात्मा को पाने वाली कोशिश, दूसरी होती है परमात्मा को पाने के बाद अन्तर से निकलने वाली भक्ति अथवा भक्ति से सने गीत। अगर परमात्मा को पा लिया तो गाने के लिए कोशिश न करनी पड़ेगी, कहीं शांत-एकांत की तलाश भी नहीं करनी पड़ेगी, अपितु वह भीतर से ही निपजेगा। भीतर की अलमस्ती से सब कुछ होगा। अगर मात्र गाने भर से परमात्मा मिल जाता, तो अब तक पता नहीं वह कितनी दफा रफी को, लता मंगेशकर को, अनुराधा को मिल गया होता। इन्हें नाम मिल सकता है, इनाम मिल सकता है, पर परमात्मा नहीं। इनके गीत कंठ तक हैं इसलिए वे कोकिलकंठी कहला सकती हैं। लेकिन परमात्मा क्या

कभी, कंठ में उतरता है ? वह तो हृदय में उतरता है । उस हृदय में जिसमें हृदयेश्वर के प्रति गहरी प्यास है ।

राजघराने की महिला मीरा गलियों में नाची, मन्दिरों में नाची । सारा राज परिवार, बन्धु, परिजन सब चिन्तित हुए । परमात्मा को पाने चली मीरा को उसके परिवार के लोगों ने ही कलंकित कर दिया । खुद सास ने ही उसे 'कुलनाशी' कह दिया । मन्दिर में नृत्य कर रही मीरा को राणा की ओर से जहर का प्याला भेज दिया गया । मीरा उसे भी प्रेम से पी गई किन्तु मरी नहीं । मीरा हो तो मरे ! वहाँ तो मीरा के भीतर भी कृष्ण ही प्रकट हो चुके थे । देह मीरा की नाच रही थी, पर चेतना, वह तो कृष्ण की हो चुकी थी । और परमात्मा भला क्या कभी जहर से मर सकता है ?

उस परम तत्त्व की स्वयं में तलाश करो । छाया को पकड़ने के बजाय मूल को ढूँढो । स्वयं को पकड़ने से छाया पकड़ में आ जाती है । मूल को पकड़ा तो छाया स्वतः पकड़ में आ गई । इसलिए दुनिया को पकड़ने की कोशिश मत करना, स्वयं को पकड़ना । निज की भी 'जिन' में तलाश करनी होगी और 'जिन' की भी निज में तलाश करनी होगी । अगर स्वयं को न जाना और सारी दुनिया को जान लिया तो उससे क्या हुआ ? और स्वयं को जान लिया और दुनिया को न जान पाये तो चिन्ता काहे की ? आखिर, वह तुम्हारे भीतर है, और भीतर के भगवान को जानने के बाद कुछ भी शेष नहीं रह जाता है । इस सन्दर्भ में जीसस का वचन सौ फीसदी सही है कि 'परमात्मा का राज्य तुम्हारे भीतर है ।'

परमात्म-तत्त्व तो आदमी के भीतर है । जब तक व्यक्ति अपने अस्तित्व को पूरी तरह तलाश नहीं कर पाएगा, तब तक वह स्वयं को उपलब्ध कैसे होगा ? हमने अभी तक परमात्मा को बाहर से निहारा है, इसलिए हमें बाह्य तत्त्व ही दिखाई देते हैं । भीतर की आँखों से निहारने पर ही भीतर के दर्शन होंगे । इस भीतर देखने की नजर को महावीर 'सम्यक् दृष्टि' कहते हैं, बुद्ध इसी को 'सम्यक् प्रज्ञा' कहते हैं अर्थात् प्रज्ञा के नेत्रों का उद्घाटन ।

आदमी जब अन्तर्-नयनों से, प्रज्ञा के नेत्रों से अपने भीतर के अस्तित्व को पहचानना शुरू करता है, तभी से उसमें संन्यास घटित होना शुरू हो जाता है । तभी तो आनन्दघन ने कहा था 'आत्म ज्ञानी श्रमण कहावे, बीजा तो द्रव्य लिंगी रे ।'

वे कहते हैं, 'श्रमण कौन है ?' वे यह नहीं मानते कि श्रमण वह है, जो किसी मंदिर, किसी उपाश्रय या किसी स्थानक में जाकर टिक गया है या जिसने वेश-परिवर्तन कर लिया है । उनकी नजर में श्रमण वह है, जिसने आत्म-ज्ञान प्राप्त कर लिया, जिसने जड़ व चेतन के भेद को प्रकट कर समझ लिया । श्रमण वही है जो आत्म-ज्ञानी हो गया । हो सकता है कि आनन्दघन ने समाज की बहुत-सी मर्यादाओं को लांघा हो । क्योंकि समाज की मर्यादाएँ समय-सापेक्ष होती हैं । उन मर्यादाओं का आत्म-ज्ञान से कोई ताल्लुकात नहीं है । जब तक सारे बन्धन भले ही वे मर्यादा के बन्धन ही क्यों न हों, न टूटेंगे तब तक आत्म-चेतना में प्रवेश कैसे होगा ? बन्धन-मुक्ति कैसे होगी ? और आनन्दघन तो जैन समाज का वह फकीर है जिसे मैं कोहिनूर हीरे की संज्ञा दूंगा, बेदाग, चमकता हीरा । जिसने समाज द्वारा थोपे गये बन्धनों से स्वयं को मुक्त किया और आत्म-ज्ञान की ओर अपने कदम बढ़ाये ।

व्यक्ति की शरीर के प्रति राग और आसक्ति इतनी गहन है कि उसे शरीर-तत्त्व में ही आत्म-तत्त्व दिखाई देता है। आदमी को इस बात की तनिक भी चिंता नहीं है कि मेरी जिन्दगी में चारों ओर कितनी कलुषताएँ छायी हुई हैं ? उसकी आत्मा के चारों ओर कितना अंधेरा छा रहा है ? उसे तो इस बात की चिंता है कि मेरे शरीर पर कोई दाग तो नहीं लग रहा है। उसे तो केवल उस दाग की ही चिंता है। उसे मिटाने का ही वह प्रयास करता है, मगर भीतर की कलुषता की ओर उसका ध्यान ही नहीं जाता।

व्यक्ति का अपनी देह से रिश्ता ही ऐसा जुड़ गया है कि उसे केवल बाहरी दाग दिखाई देते हैं। कई लोगों को सफेद दाग की बीमारी हो जाती है तो उसे ठीक कराने के लिए वे पूरी दुनिया में घूम आते हैं, मगर आत्मा के दागों पर उनकी नजर नहीं पड़ती। वे तो केवल अपने शरीर को ही बेदाग रखने की कोशिश में लगे रहते हैं।

वस्तुतः सच्चा साधक तो वही है, जो जड़ और चेतन के अंतर को पहचान कर, चेतन के प्रति अपनी लौ लगा ले। आनंदघन ने यही किया इसीलिए तो उनका श्रमण वही है जिसे आत्म-ज्ञान की प्राप्ति हो जाए या फिर वह जो इसकी प्राप्ति के प्रयासों में लग जाए। होता यह है कि नब्बे प्रतिशत लोग जड़ को ही सर्वस्व मानकर चल रहे हैं। उनकी दुनिया 'तेरा', 'मेरा' के इर्द-गिर्द ही घूमती रहती है। तभी तो ऊपरी शरीर में तो उसे पचास कमियाँ भी नजर आ जाती हैं, मगर भीतर एक कमी भी वह नहीं देख पाता। उसे दूर करने की बात तो अलग है। आदमी पूरा जीवन शरीर के कालेपन को साफ करने में पूरा कर देता है। आत्मा की चुनरी पर लगे दाग उसे कहाँ नजर आते हैं ? वह ध्यान दे तो शायद नजर भी आएँ पर ऐसा करना उसे नहीं सुहाता।

देह पर छोटी सी खरोंच आ जाए तो व्यक्ति बेचैन हो उठता है, मगर आत्मा पर तो न जाने कितनी चोटें लग रही हैं, आत्मा लहुलुहान हो रही है, मगर आदमी का इस ओर ध्यान नहीं जाता। आखिर व्यक्ति है कौन ? वह कहाँ से आया है, इन प्रश्नों पर वह विचार ही नहीं कर पाता। उसे इसका समय ही कहाँ मिलता है ? वह अपने को मोहनलाल, रामलाल कहता है किन्तु वह यह नहीं जानता कि ये सब तो शरीर के आरोपित नाम हैं जिनका उसकी आत्मा से कहीं कोई सरोकार ही नहीं है।

आदमी एक लाख का दान देकर प्रफुल्लित होता है। वह खुश होता है कि उसका 'नाम' हो गया। उसका नाम कहीं शिलापट्ट पर अंकित हो गया। वह नहीं जानता कि जिस नाम को चमकाने में वह लगा है, वह चेतना का नाम नहीं है अपितु जड़ का नाम है। और भला आरोपित नाम की उम्र का क्या ठिकाना ?

जब तक आदमी शरीर के साथ ममत्व बुद्धि रखेगा, तब तक वह आत्म-चेतना को नहीं पहचान पाएगा। वह यह नहीं सोचता कि पूरी जिन्दगी भर जिस देह की वह सार-संभाल कर रहा है, वह अंतिम समय में यहीं रह जाने वाली है। पूरी जिन्दगी साबुन से धोने के बाद भी यह काया तो राख होनी है। आदमी की काया गोरी हो या काली, आखिर तो वह राख होकर काली ही होती है।

देह के प्रति जो मूर्च्छा और आसक्ति है, वह जल्दी समाप्त नहीं होती, इसलिए मनुष्य भटकता रहता है। राग और मोह के चक्रव्यूह में वह ऐसा उलझ जाता है कि उससे बाहर का तो हमें कुछ नजर ही नहीं आता। हम अपनी चेतना को जागृत करें। अपने अस्तित्व की तलाश स्वयं करें क्योंकि वह परमात्म-तत्त्व हमारे भीतर ही तो

समाहित है।

राबिया एक विदुषी महिला हुई है। एक बार वह अपनी कुटिया के बाहर कुछ ढूँढ रही थी। उधर से कुछ संत गुजरे। उन्होंने राबिया को कुछ ढूँढते देखा तो पूछा कि 'क्या ढूँढ रही हो?' राबिया ने कहा, 'सूई खो गई है, उसे ढूँढ रही हूँ।' उन संतों ने भी सूई ढूँढना शुरू कर दिया। काफी देर बाद भी जब सूई नहीं मिली तो संतों ने पूछा कि 'सूई खोई कहाँ थी?' राबिया ने कहा, 'सूई तो कुटिया के भीतर खोई थी।'

संत अचंभित रह गए। वे बोले, 'राबिया, हम तो तुम्हें विदुषी समझते थे, पर तुम तो यह भी नहीं जानती कि जो सूई कुटिया के भीतर खोई है, वह कुटिया के बाहर कैसे मिल सकती है?' राबिया ने कहा, 'तुम लोग भी तो जिस ज्ञान की खोज में जंगल में जा रहे हो, इधर-उधर भटक रहे हो वह तो तुम्हारे भीतर ही है। उसे वहाँ क्यों नहीं ढूँढते? संतों की आँखें खुल गईं। राबिया वाकई कितनी महान थी। दूसरों को उपदेश देने का उसका तरीका भी कमाल का था। जो चीज जहाँ खोई है, वहीं मिलेगी। उसे अन्यत्र ढूँढना मृगतृष्णा ही है।

हम राबिया के इस संदेश को जीवन में उतारें। अन्यथा सूई तो भीतर पड़ी है और हम उसे बाहर ही ढूँढते रह जाएँगे। जो आदमी ऊपर ही तैरता रहेगा, उसके हाथ कभी मोती नहीं लगेंगे। 'जिन खोजा, तिन पाइयां, गहरे पानी पैठ।' जो जितनी गहराई तक उतरेगा, मोती मिलने के अवसर उतने ही अधिक हो जाएँगे। भीतर अंधकार जरूर है लेकिन साधक की दृढ़ इच्छा-शक्ति वहाँ रोशनी पैदा कर देगी।

आदमी दिखावे भर के लिए बाहरी क्रियाकलाप तो करता जाता है, मगर भीतर की उसे सुध नहीं रहती। अपने आपको पहले डूबने के योग्य बनाओ, तभी गहराई तक पहुँच सकोगे और मोती तुम्हारे हाथ आ सकेंगे। जब तक यह नहीं होगा, आपका जड़ के प्रति राग बना रहेगा और भीतर के आत्मचेतनतत्त्व में जाग्रति नहीं हो पाएगी। उस पर धूल जमती जाएगी।

व्यक्ति का देह के प्रति राग रहेगा तो मामूली सिरदर्द भी उसे परेशान कर देगा और यदि वह उससे ऊपर उठ गया तो कैंसर भी उसका कुछ नहीं बिगाड़ पाएगा। वह आत्म-चेतना में लीन हो जाएगा। देह की व्याधि उसकी अन्तर-चेतना में समाधि का निमित्त बन जायेगी। जहाँ-जहाँ व्यक्ति की देह से आसक्ति रहेगी, वहाँ-वहाँ उसे सिवाय भटकाव के और कुछ भी न मिलेगा। इसलिए आपसे अनुरोध है कि आप देह से ऊपर उठें। देह के प्रति आसक्ति को छोड़ें। देह के प्रति सूक्ष्म से सूक्ष्म राग के जितने निमित्त हैं, उनसे मुक्त होने का प्रयास करें। आप अपने भीतर लौटने का प्रयत्न करें, मंजिल आपका स्वागत करेगी। भीतर लौटोगे तो अंधेरे से प्रकाश की यात्रा शुरू होगी और उसकी समाप्ति परमात्मा से मिलन में होगी।

एक बात मैं और कहना चाहूँगा कि भीतर के अंधेरे से कभी घबराना मत। निश्चित रूप से बाहर की आँखें बन्द करने पर भीतर अन्धेरा ही दिखाई देगा और तुम घबराओगे। लेकिन एक बात का हमेशा ध्यान रखना कि बाहर कितना भी उजाला हो, तुम्हारी आँखें मुँदते ही तुम्हारे लिए वहाँ अंधेरा छा जायेगा। पर अगर तुम्हें भीतर का प्रकाश उपलब्ध हो गया तो चाहे आँखें बंद रहें या खुली, उसकी ज्योतिर्मयता तो कायम रहेगी ही।

कल एक महानुभाव कह रहे थे। 'आँख बंद करके ध्यान करने बैठता हूँ तो भीतर गहरा अंधेरा दिखता है।

भला अँधेरे में जाकर प्रकाश को कैसे उपलब्ध कर पाऊँगा?’ मेरे प्रभु! शुरुआती दौर पर मिलने वाला यह अंधेरा ही तुम्हें प्रकाश की प्रतीति करा पायेगा। जितनी गहरी रात होगी, उतनी ही प्यारी सुबह होगी। और अंधेरा चाहे कितना गहरा हो, चिन्ता मत करना। अंधेरे का कोई अस्तित्व नहीं होता है। भले ही अंधेरा हजार साल पुराना हो किन्तु यदि अभी दीया जलाओ तो वह अभी मिट जायेगा। दिखने में अंधेरा भले ही भयानक हो लेकिन वह बड़ा निर्बल है। ज्योति छोटी भी क्यों न हो, पर वह बड़ी शक्तिशाली होती है। और उसमें भी भीतर की ज्योति, वास्तव में परमात्मा का अंश है। इसलिए दीया जला दो तो अंधेरा चला गया, दीया बुझा दो तो अंधेरा छा गया। जिस दिन हम भीतर के दीये की तलाश कर लेंगे, उस दिन हमारे अस्तित्व का सारा अँधेरा गायब हो जायेगा। तुम किसी दूसरे प्रकाश के सहारे नहीं चलोगे, अपितु स्वयं ही अपने लिए प्रकाशवाही बन जाओगे।

इसलिए स्वयं को जड़ और पुद्गल पदार्थ से उपरत करो। जिसे भेदज्ञान हो चुका है कि चेतना अलग है और देह अलग है, वह व्यक्ति ही अपनी चेतना के लिए दो कदम बढ़ा पायेगा।

जब तक व्यक्ति का देह से राग रहेगा, उसे मामूली सुई भी चुभन देगी, दर्द देगी और जब आदमी देह से ऊपर उठ जाएगा तो साध्वी विचक्षणश्री की तरह कैंसर का रोग भी उसे विचलित नहीं कर पाएगा। आदमी अगर देह से ऊपर उठ जाए और यह सोचे कि यह पीड़ा मुझे नहीं, शरीर को, देह को हो रही है तो उसमें ऐसे भाव भी पैदा हो जाएँगे जिनसे आदमी को पीड़ा की अनुभूति नहीं होगी। बहुत से लोगों ने साध्वी विचक्षणश्री के दर्शन किए थे। उस साध्वी को कैंसर हो गया था। उनके शरीर से मवाद बहता रहता था। उस साध्वी ने जैसे कैंसर पर विजय प्राप्त कर ली थी। मैं उस साध्वी से नहीं मिला, मगर मेरी चेतना की जागृति में उसका बहुत बड़ा हाथ है।

व्यक्ति ने यदि जीते जी इस तत्त्व को पहचान लिया कि आत्मा अलग तत्त्व है और शरीर अलग तत्त्व है, चेतन अलग और पुद्गल अलग, तो वह आदमी जीवन में बहुत कुछ पा जाएगा। आदमी जीते जी अपनी आँखों से इस तत्त्व को निहार ले कि मैं अलग तत्त्व हूँ और शरीर अलग है तो उसे पीड़ा की अनुभूति नहीं होगी। उसकी आत्मा इससे प्रभावित नहीं होगी। मेरी दृष्टि में यही साधना है और यही साधना-फल है कि व्यक्ति देह में जीते हुए भी स्वयं को देहातीत कर चुका है। जिसे यह बोध हो गया है कि आत्मा शरीरव्यापी होते हुए भी अन्ततः शरीर से, चित्त, मन और विचारों से मुक्त है। वह मुक्ति का आनन्द पा रहा है। इसी का नाम ही तो मुक्ति है कि व्यक्ति संसार को ही समाधि का नंदनवन बना ले। देह में रहे, फिर भी देह से कुछ ऊपर।

आपके शरीर में यदि कोई फोड़ा हो जाए तो एक प्रयोग करके देखियेगा। आप चिंतन करियेगा कि यह फोड़ा शरीर का है, मेरा नहीं। ऐसा हुआ तो फिर आपकी पीड़ा स्वतः ही कम हो जाएगी। इसलिए मैं कहता हूँ आदमी अपनी अंतश्चेतना को जाग्रत कर, पहले तो यह सोच ले कि मैं अलग हूँ और यह शरीर अलग है।

इस संकल्प का लाभ यह होगा कि व्यक्ति अपने भीतर प्रवेश कर पाएगा। अन्यथा जिन्दगी तो सुषुप्तावस्था में ही समाप्त हो रही है। संकल्प लिया जाए कि मैं अलग हूँ, शरीर अलग है। ईमानदारी तो यह है कि गहन आसक्ति के चलते व्यक्ति चलता-फिरता भी नींद में सोया हुआ है। नींद में तो वह अचेत रहता ही है। पूरी

जिन्दगी आदमी की इसी सुषुप्तावस्था में व्यतीत हो जाती है। कभी चिंतन करोगे तो पता चलेगा कि साठ साल की जिन्दगी सोये-सोये ही पूरी कर दी। कभी खुली आंखों से तो कभी बंद आंखों से सपना देखा। व्यक्ति निरंतर सपनों में सोया है। आखिर सारा संसार सपना ही तो है, भले ही हम उसे खुली आंखों का सपना कह दें।

कोई व्यक्ति सोया हुआ है और आप उसे जगाते हैं तो उसे बुरा लगता है। यह दुनिया का रिवाज है कि कोई किसी को जगाए तो उसे बुरा लगता है। इसी तरह आप किसी की बुराइयों को उसे बताएँगे तो वह आपके गले पड़ जाएगा। यदि यह घोषणा की जाए कि कल यहाँ 'सत्य कैसे बोला जाए', इस पर भाषण होगा तो पचास लोग भी नहीं जुटेंगे। इसके विपरीत अगर यह विज्ञापन अखबारों में दिया जाए कि 'यहाँ झूठ बोलने की कला सिखाई जाएगी' तो हजारों लोग आ जाएँगे। जीवन के कल्याण से सम्बन्धित बात सुनने की किसे पड़ी है ?

संसार का रवैया ही ऐसा है। कोई व्यक्ति लोगों का जीवन सुधारना चाहता है तो उसके कानों में कीलें ठोकी जाती हैं, उसे सलीब पर चढ़ाया जाता है। ईसा मसीह ने भी यही तो किया, जिसकी सजा उन्हें अपनी जान देकर चुकानी पड़ी। गांधी को इसीलिए गोली लगी। सुकरात को जहर का प्याला पीना पड़ा। आज जिस ईसा मसीह की इबादत की जाती है, उसे लोगों ने जीते जी सूली पर चढ़ा दिया था। जिस महावीर को आज हम पुष्प-चंदन चढ़ाते हैं, जब वे जीवित थे तो लोगों ने उनके कानों में कीलें ठोकी थीं। इस दुनिया का स्वभाव ही ऐसा है कि वह अतीत को गौरवपूर्ण बताते हुए उसकी पूजा करती है और वर्तमान का बहिष्कार करती है। व्यक्ति जीते जी इंसान को भगवान के रूप में स्वीकार नहीं कर सकता। आज अगर महावीर पैदा हो जाएँ तो लोग फिर कीलें ठोक दें। जब-जब भी कोई महापुरुष इस सोई हुई दुनिया को जगाने का प्रयास करेगा, तो यह दुनिया उसकी आलोचना करेगी, उसे पत्थर मारेगी। दुनिया को तो बेहोशी और नींद पसंद है। उसे जगाना अच्छा नहीं लगता।

पतंजलि ने योगसूत्र में तीन बातें कहीं- जाग्रति, सुषुप्ति और स्वप्नावस्था। हम धीरे-धीरे जाग्रति में आएँ। अभी तो हम सुषुप्तावस्था में हैं। उससे ऊपर उठकर जाग्रतावस्था की ओर चलें। अपने आप को ऊपर उठाएँ और आत्म चेतना की ओर लौटें। जो व्यक्ति जागेगा सो पाएगा। सोया रहने वाला व्यक्ति सिवाय पछताने के और कुछ न कर सकेगा।

मैं आपसे आह्वान करता हूँ कि निद्रा से जागिये और आगे बढ़ने की राह पर कदम बढ़ाइये। यदि सोते रहे तो पछताते रह जाओगे। आप जगें और देह के प्रति मूर्च्छा तोड़ें। देह के प्रति आसक्ति को समाप्त करें। आत्मचेतना में लौटने की कोशिश करें। जो स्वयं में लौट आया, वह स्वयं को उपलब्ध हो गया। इसलिए प्रभु कहते हैं- 'अप्पा सो परमप्पा' अर्थात् जो आत्मा है, वही परम आत्मा है। आत्मा की विराट आभा ही परमात्मा है।

# संसार के आर-पार



एक सम्राट् एक फ़कीर को प्रतिदिन अपने महल में आकर भोजन करने के लिए आमंत्रित किया करता था। फ़कीर था कि 'हाँ' ही न करता था। सम्राट् ने भी हार नहीं मानी और रोजाना उसके पास जाकर आग्रह करने का अपना क्रमभंग नहीं किया। आखिरकार, एक दिन फ़कीर का दिल पसीजा और वह महल में भोजन करने के लिए आने को तैयार हो गया।

राजा के हर्ष का पारावार न रहा। उसने फ़कीर के स्वागत में राजपथ की सजावट करवाई और महल को भी सजाया गया। महारानी ने स्वयं फकीर की अगवानी की। फ़कीर ने शांत-चित्त से भोजन किया। भोजन के बाद करीब एक घंटे महल में विश्राम कर फ़कीर अपनी झोंपड़ी की तरफ रवाना हो गया।

सम्राट् ने सोचा कि कुछ दूर तक फकीर को छोड़ आना चाहिए। वह फकीर के साथ-साथ चलने लगा। सम्राट् ने चलते समय फकीर से पूछा 'फकीर साहब! मेरी एक शंका का समाधान करें। मैं सम्राट् हूँ, महल में रहता हूँ। सोने के थाल में भोजन करता हूँ। आज आप भी महल में रहे, आपने सोने के थाल में भोजन किया, फिर आप में और मुझ में अंतर ही क्या हुआ ?'

फ़कीर मंद-मंद मुस्कराया, मगर बोला कुछ नहीं, चलता रहा। उसकी झोंपड़ी महल से करीब दस किलोमीटर दूर जंगल में थी। दोनों चलते रहे। करीब दो किलामीटर चलने के बाद सम्राट् को बेचैनी होने लगी। उसका खयाल था कि फकीर उसे लौट जाने को कहेगा, मगर फ़कीर अपनी धुन में चला जा रहा था। बिना उसके कहे सम्राट् अगर लौट आए तो अच्छा नहीं लगता। जब वे पाँच-छः किलोमीटर दूर आ गए तो सम्राट् ने

मुड़-मुड़ कर पीछे देखना शुरू कर दिया।

काफी देर तक जब यही स्थिति रही तो फकीर ने सम्राट् से पूछ लिया, 'सम्राट्! आप बार-बार पीछे मुड़कर क्या देख रहे हैं?' सम्राट् ने कहा- 'फकीर साहब! पीछे मुड़ कर न देखूँ तो क्या करूँ? मेरा सब कुछ पीछे ही है। मेरा राजमहल, मेरी रानियाँ, मेरी प्रजा, धन-वैभव सब कुछ पीछे ही तो है।' फकीर मुस्कुराया। फिर बोला, 'सम्राट्, आपने मुझसे कुछ देर पहले पूछा था कि मुझमें और आप में क्या फर्क है? यही फर्क है। मैं आपके महल में रहा, सोने के थाल में भोजन किया, विश्राम भी किया, मगर जब मैं महल से रवाना हो गया तो मैं अपना पहला कदम महल के बाहर रखते ही वह सब भूल गया, पर आप अभी तक महल, प्रजा और राजरानी के लिए पीछे मुड़-मुड़ कर देख रहे हैं। मैं तो उसी क्षण राजमहल को भूल गया, मगर तुम्हारे भीतर अब भी राजमहल जीवित है। अब आपको पता लगा होगा कि आखिर आप में और मुझ में क्या फर्क है?'

जो आसक्ति में डूबा है, वह संसारी है और जो अनासक्त हो चुका है, परित संसारी हो गया, वही संन्यासी है। हम लोगों ने संन्यास का अर्थ मात्र वेश रूपांतरण से लगा लिया है। लोग कहते हैं कि संन्यासी वह है जिसने भगवा कपड़े पहन लिए, जो दिगम्बर हो गया, जो पहाड़ों में जाकर तपस्या करने बैठ गया। और संसारी वह है, जिसने विवाह किया, दुकान चलाता है, सांसारिक कर्म करता है। मगर यह विभाजन सौ फ्रीसदी ही नहीं है। यह तो ऊपरी तौर पर अंतर हुआ।

वास्तव में गृहस्थ या संसारी वह है जिसके मन में अभी आसक्ति है, जो आसक्ति के लुभावने जाल में फँसा है। इसके विपरीत, फकीर वह है जिसने आसक्ति को, सम्मोहन को पीठ दिखा दी है। साधु वह है जिसके पाँव तो सारी दुनिया में घूम रहे हैं लेकिन उसका मन एक जगह टिका हुआ है। गृहस्थ वह है जिसके पाँव घर, परिवार में टिके हैं, मगर उसका मन पूरी दुनिया घूम आया है।

फकीर वह है जिसका मन टिक गया है। उसका चित्त अब इधर-उधर नहीं भटकता। वह इन सबसे ऊपर उठ चुका है। भले ही पाँवों से वह भ्रमण करता रहे पर उसका चित्त भ्रममुक्त हो गया है। मन यदि चंचल रहा तो संन्यास सध न पाएगा। आदमी की समस्या है कि वह सांसारिक चीजों से ममत्व बढ़ाता जाता है और इसका परिणाम यह होता है कि उसके पाँव संसार रूपी कीचड़ में और अधिक धँसते चले जाते हैं। जैसे-जैसे हमारी आसक्ति बढ़ेगी, हमारी समस्याएँ भी बढ़ती जाएँगी और चित्त को चंचलता के नये-नये सम्पर्क-सूत्र मिलते रहेंगे।

बहिरात्मा की यही निशानी है। व्यक्ति अपनी आत्म-संवेदना को स्वीकार नहीं कर पाता। वह जड़ पदार्थ के प्रति इतना उलझ गया है, इतना सम्मोहित हो गया है कि उसे यह समझ में ही नहीं आता कि यह सब इस संसार में शाश्वत नहीं है। एक दिन तो उसे दूसरे लोक में जाना है। व्यक्ति ने अपने चारों ओर घर, परिवार, दुकान आदि का ऐसा सम्मोहन खड़ा कर लिया है कि अब उनसे छूटना उसे आसान नहीं लगता। आदमी परिवार से दुःखी होता है, तब भी उससे नहीं छूट पा रहा है। मैंने कहा, 'छूट नहीं पा रहा है,' पर हकीकत में तो वह छूटने का ईमानदारी से प्रयास ही नहीं कर रहा है। हमारे बंधन भी बड़े विचित्र हैं। पति अपनी पत्नी से मुक्ति चाहता



है। पुत्र अपने पिता से मुक्त होना चाहता है। सभी एक दूसरे से दुःखी हैं, मगर छूटने के लिए वे प्रयास भी नहीं करते। दुःख के दलदल में सभी जी रहे हैं पर मोहनीय कर्मोदय का प्रभाव यह है कि वे दुःख को ही सुख मान बैठे हैं। जिसे हम सुख कहते हैं, उसका समापन सदा दुःख में ही तो होता है।

इस जगत में सिवाय दुःख के और है ही क्या? जन्म, बुढ़ापा, मृत्यु ये सब दुःख के ही कारण हैं। इनसे ही दुःख उत्पन्न होता है। मनुष्य के जन्म से लेकर मृत्यु तक की पूरी यात्रा दुःख में चलती है। आदमी इससे छूट नहीं पाता। मकड़ी जाल बनाती है, औरों को फँसाने के लिए लेकिन वह खुद उसमें फँस कर रह जाती है। मनुष्य के साथ ऐसा ही हो रहा है।

कुत्ता जब हड्डी को चूसने लगता है तो कुछ समय बाद ही उसे हड्डी में से खून का स्वाद आने लगता है। वह समझता है कि हड्डी में से यह खून आ रहा है। उसे कौन समझाए कि यह उसका खुद का खून है? मनुष्य की हालत भी ऐसी ही है। वह अपनी ऊर्जा समाप्त करता जाता है और ऊर्जा के समापन में ही वह सुखानुभूति करता रहता है। लेकिन उसकी समझ में यह नहीं आता कि ऊर्जा के इस अपव्यय को कैसे रोके? वह दुनियादारी में दौड़ता रहता है। और इसी भागम-भाग में उसकी मौत हो जाती है, उसके हाथ कुछ नहीं लगता।

मनुष्य की ऊर्जा ऐसे कामों में समाप्त हो रही है, जिसका उसके जीवन से कोई लेना-देना नहीं है। व्यक्ति हर रोज तय करता है कि अब से मैं अपनी ऊर्जा को सँभाल कर रखूँगा, लेकिन वह ऐसा नहीं कर पाता। मन की कमजोरी, सांसारिक वस्तुओं के प्रति उसकी आसक्ति और सम्मोहन इतना गहरा है कि वह उनसे छूट ही नहीं पाता। आदमी घाव को खुजलाता है। पहले तो उसे इसमें आनन्द आता है, मगर धीरे-धीरे उस घाव से पीप निकलने लगती है, तब आदमी की आँखें खुलती हैं। अरे, मैं कैसे क्षणिक आनंद में मगन हो गया था, लेकिन तब तक देर हो चुकी होती है।

इस संसार के चक्र से छूटने की पहली शर्त यही है कि आदमी आसक्ति और सम्मोहन से अपने आपको मुक्त करे। वह 'मेरापन' को समाप्त करे, तभी आत्मतत्त्व के निकट पहुँचना संभव है। उसे 'मैं' को भी छोड़ना होगा। जब आदमी 'मैं' को समाप्त करेगा तो वह परमात्म-तत्त्व के निकट पहुँच सकेगा। परमात्म-तत्त्व तक पहुँचने में 'मैं' और 'मेरापन' बाधक है। जहाँ ये सब हैं, वहाँ आसक्ति और सम्मोहन भी डेरा जमा लेते हैं। जहाँ आसक्ति है, वहाँ आत्मा नहीं है और जहाँ 'अहम्' है, वहाँ परमात्मा नहीं है।

आसक्ति से मुक्ति या वैराग्य का सामान्यतया हम लोग 'विराग' अर्थ निकालते हैं। हमारे यहां राग का अर्थ है वस्तुओं को देख कर उन्हें पाने या मांगने की आकांक्षा का जन्मना। सुखद परिस्थिति सामने आये तो उसमें लीन होने के अन्तर्विचारों में जो भाव उत्पन्न होते हैं, उसी का नाम राग है। आत्मा का राग से गहराई में जाकर जुड़ जाना, इसे हम आसक्ति कह सकते हैं, सम्मोहन या मूर्च्छा कह सकते हैं।

राग-भाव जिसका परिणाम आसक्ति निकलता है, आत्मा को सर्वाधिक संसार में बाँधे रखता है। व्यक्ति 'पर' से जुड़ना चाहता है, स्वयं को खोकर किसी वस्तु में डूब जाना चाहता है। स्वयं से परे ही उसे सुख दिखाई देता है। उस 'पर' पदार्थ में दिखाई देने वाले सुख में डूब जाने की आकांक्षा का नाम ही राग है।

राग के ठीक विपरीत विराग अथवा वीतराग है। उपनिषदों में कहा गया है कि भोग्य पदार्थों के उपस्थित होने पर भी वासना का जागृत न होना विराग है। 'वासनाऽनुन्दयो भोग्ये, वैराग्यस्य तदाऽवधिः।' तो विराग का अर्थ हुआ, जहाँ आकर्षण की संभावना है, वहाँ विकर्षण पैदा हो जाये। जिन पदार्थों के प्रति चित्त आकर्षित होना चाहिए था, उन्हीं पदार्थों के प्रति पीठ करने की इच्छा उत्पन्न हो जाए तो यह जीवन में विरागता का जन्मना है। जिसकी ओर मन दौड़ता है, वह राग। जिससे मन वापस खिंचता है, वह विराग है और हकीकत में विराग का अर्थ राग का उल्टा हो जाना नहीं है, अपितु राग का अभाव हो जाना है। यानी जहाँ पर रागात्मक संबंध जुड़ा हुआ था, वहाँ से द्वेषमूलक संबंध न जुड़े, अपितु संबंध-विच्छेद ही हो जाए। समाधि के मार्ग में विराग का गहरा अर्थ यही निकलता है कि जब न आकर्षण हो और न विकर्षण हो, न खिंचाव हो और न विपरीत हो, पदार्थ का होना न होना बराबर हो जाये। उपनिषद् की दृष्टि में यही विराग है, यही वैराग्य है।

हमारे किसी दूसरे से अनुकूल संबंध ही होते हों, ऐसी बात नहीं है। संबंधों में जब खिंचाव, प्रतिकूलता आ जाती है, तब भी संबंध तो जारी ही रहते हैं। हाँ, हम उसे प्रतिकूल की संज्ञा दे सकते हैं। आस पुरुषों की दृष्टि में तो यह एक गहरा मजाक है कि कभी-कभी शत्रु भी सुख देते हैं और मित्र भी दुःख देते हैं। मित्र जब छूटते हैं तब दुःख देते हैं और शत्रु जब मिलते हैं तब दुःख देते हैं—

मिलत एक दारुन दुख देई।

बिछरत एक प्राण हर लेई।

मित्र मिलता है तो सुख होता है और शत्रु मिलता है तो दुःख होता है। वहीं शत्रु छूटता है तो सुख होता है, मित्र छूटता है तो दुःख होता है।

चाहे कोई छूटे या जुड़े, हमारा लगाव तो जारी ही रहता है। बस, समर्थन और विरोध की भाषा बदल जाती है। बंधन के खूटे बदल जाते हैं, पर हमारे गले में तो बंधन बँधा ही रहता है। मेरा तो यही अनुभव रहा है कि व्यक्ति का जितना मित्र के प्रति बंधन रहता है, कहीं उससे ज्यादा ही शत्रु के प्रति भी रहता है। हम मित्र से ज्यादा शत्रु को याद किया करते हैं। हमारी मानसिकता को मित्र की मित्रता उतनी प्रभावित नहीं करती, जितनी शत्रु की शत्रुता करती है।

वैराग्य का अर्थ हुआ, 'संबंध का ही विच्छेद हो जाना, असंबंधित हो जाना।' अनासक्ति, विरागता, वीतरागता। इन सब शब्दों की मूलात्मा यही है कि सब भोगने योग्य पदार्थ मौजूद हों, फिर भी मन में भोगने की कामना या आकांक्षा तक भी न जगे।

आसक्ति संसार का विस्तार है। आसक्त व्यक्ति ही कर्मों का बंधन करता है और अनासक्त व्यक्ति ही उनसे मुक्त होता है। जिसने आत्मा को आत्मा मान लिया, वह कर्मों से मुक्ति का प्रयत्न करेगा और जो शरीर/संसार को ही आत्मा मान रहा है, वह अपने जीवन में कर्मों को विस्तार दे रहा है। संसार का कोई पदार्थ, कोई तत्त्व मनुष्य को अपनी ओर से नहीं बाँधता। हम स्वयं ही उससे जाकर जुड़ता है, बँधता है। हम अवश्य कहते हैं— यह मेरा मकान, यह मेरी दुकान, यह मेरी फैक्ट्री, लेकिन मकान, दुकान, फैक्ट्री कभी यह नहीं कहते कि यह मेरा

मालिक ! मेरेपन की तादात्म्य वृत्ति हमारे अपने द्वारा ही पैदा की जाती है ।

किसी भी पदार्थ से हमारी ममत्व बुद्धि तभी जुड़ती है या जुड़नी प्रारंभ होती है, जब उस पर 'मेरेपन' का भाप आरोपित किया जाता है । मकान कल तक भी था जब तक तुमने उसे खरीदा नहीं था । लेकिन आज तुम उसे 'मेरा' कह रहे हो । कल तक न कहा था और अगर कल वापस उसे बेच दिया, भले ही उसमें पचास साल तक रहे, पर यह न कहोगे कि यह मकान मेरा है । जिस मकान में पचास साल तक जीये, अगर तब तक उस मकान में दरार भी पड़ जाती थी, तो तुम आकुल-व्याकुल हो जाते थे पर बिक जाने के बाद अगर वह पूरा ही गिर जाता है, तो तुम्हारे मन में किंचित्मात्र भी व्याकुलता पैदा न होगी । इसका अर्थ यह है कि व्याकुलता का संबंध, सुख-दुःख का संबंध तुम्हारी 'ममत्व बुद्धि' से है, मकान से नहीं है ।

मैंने एक घटना सुनी है । किसी मकान में आग लग गई । मकान-मालिक छाती पीट-पीटकर रोने लगा, आग बुझाने के लिए चीखने-चिल्लाने लगा, लेकिन तभी पड़ोसी ने आकर बताया, 'क्यों बेकार में रो रहे हो ? तुम्हारा बेटा कल ही इसका बीमा करा चुका है । कल ही मैंने उसे बीमा विभाग में देखा था जब वह मकान का बीमा करवा रहा था । तुम नाहक ही परेशान हो रहे हो । मकान तो तीन लाख का जलेगा किन्तु तुम्हें चार लाख मिल जाएँगे ।'

मकान-मालिक ने कहा, 'क्या सचमुच मकान का बीमा हो चुका है ? तो कोई चिंता की बात नहीं है । वैसे भी यह मकान पुराना हो चुका था ।' देखते-देखते उसके आँसू न जाने कहाँ गायब हो गये ? मकान तो अब भी जल रहा था, लेकिन बीमा हो चुका था, इसलिए व्यक्ति की आसक्ति मकान से हटकर बीमा पर चली गई, यह सोचकर कि बीमा से जो पैसा मिलेगा, वह तो मेरा ही है । चलो, इससे नया मकान बन जायेगा ।' लेकिन तभी उसका बेटा भागा हुआ आया और बोला- 'पिताजी आप यह क्या कर रहे हैं ? घर में आग लगी है और आप बाहर खड़े बातें कर रहे हैं ।'

उस मकान मालिक ने कहा, 'अरे बेटा, जब तुमने बीमा ही करवा लिया है तो चिन्ता किस बात की ?' बेटे ने अपना हाथ सिर पर मारा और कहा, 'पिताजी मैं गया जरूर था, बीमा करवाने लेकिन बीमा हो नहीं पाया ।' उसका इतना कहना था कि मकान मालिक के फिर आँसू बहने लगे । वह फिर छाती पीट-पीटकर रोने लगा । 'मर गये, लुट गये' कहने लगा ।

मकान वही का वही, आग वही की वही, पर बीच में क्या हो गया ? पहले तो 'मेरापन' मकान से अलग हो गया, आँसू सूख गये, किन्तु फिर 'मेरापन' मकान से जुड़ गया और वापस आँसू बहने शुरू हुए । 'मेरापन' का भाव ही हमारे सुख व दुःख का कारण है । अगर 'मेरापन' का भाव हट जाये, ममत्व-बुद्धि छूट जाये, तो कर्मों की हर प्रक्रिया का प्रभाव भी शरीर तक आकर सीमित रह जायेगा । वह चेतना का स्पर्श नहीं कर पायेगा । मेरा भाव रखना ही समस्त प्रक्रियाओं को अपना साथ देना है । जिस दिन यह बोध हो जाए कि जहाँ मैं जी रहा हूँ, वह मेरा नहीं है; जिनके बीच जी रहा हूँ, वे मेरे नहीं हैं, तो फिर व्यक्ति महावीर और बुद्ध की तरह जीवन को एक क्षण में सन्मार्ग पर ले आएगा ।

संसार के सारे संबंध आरोपित हैं। तुम्हारी कल्पनाओं से कल्पित हैं। मनुष्य एक गहरी भ्रांति में जी रहा है, सच्चाई मानकर कि यहाँ सब कुछ मेरा है। आपकी पत्नी है, उस पर आप जी-जान दिये जा रहे हैं, उसके लिए कुर्बान हो सकते हैं खुद। ऐसा लगता है जैसे उसके बिना आप जी ही नहीं सकते हैं। पर यदि एक दिन किसी पुरानी किताब में दबा हुआ कोई पत्र आपको मिल जाये और आपको पता चल पड़े कि किसी से तुम्हारी पत्नी का प्रेम रहा है तो तुम डांवाडोल हो जाओगे। एक क्षण में तुम्हारी ममत्व-बुद्धि गिर जायेगी और तुम्हें ऐसा लगेगा जिसे मैं 'मेरी' कह रहा था, वह मेरी नहीं किसी और की है— 'यां चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता।'

आरोपण मेरेपन का है। जहाँ यह आरोपण जुड़ गया, वहाँ लगता है कि सब कुछ यही है। फिर उसके लिये दुःख भी झेल लिये जायेंगे और जहाँ मेरापन हटा, वहाँ लगता है जैसे सब कुछ टूट गया, अलग-थलग हो गया।

सब कुछ आरोपित है। जो लोग जीवन की गहराई तक गये हैं, उन्होंने पाया है कि मेरेपन में जीने वाले मनुष्य का इस जगत में कुछ भी मेरा नहीं है। और सबको छोड़ो, यह तुम्हारा शरीर भी तो तुम्हारा अपना नहीं है। वह भी तुम्हें तुम्हारे माता-पिता से मिला है। उन्हें भी उनके माता-पिता से मिला था। 'पर' के निमित्त से देह मिली और अंततः इसका समापन भी 'पर' पदार्थ में ही होगा। अगर अपने जीवन के अस्तित्व को खोजने जाओगे तो तुम्हें पता चलेगा कि लाखों-करोड़ों वर्ष की तुम्हारी यात्रा है। न हड्डी तुम्हारी, न मांस है, न मज्जा है, कुछ भी नहीं है इनमें, जिसे तुम अपना कह सको। सिर्फ तुम ही तुम्हारे हो। इस 'तुम' का अनुभव करने के लिए मेरेपन की परतों को उघाड़ना पड़ेगा। तुम्हारी-आत्मा के चारों ओर ये परतें परदे बनकर खड़ी हैं।

प्रत्येक व्यक्ति मेरेपन को हटाने की कोशिश करे। 'नेति-नेति' यह भी नहीं, वह भी नहीं। संबंध को यह सोचकर हटाते जाएँ और जब परतें उघड़ जाएँगी, तब अनुभव कर पाओगे 'मेरे' भीतर छिपे हुए 'मैं' को। जैसे-जैसे 'मेरेपन' से तुम्हारा छुटकारा होगा, वैसे वैसे तुम स्वयं के करीब पहुँचोगे और जैसे-जैसे मेरेपन का फैलाव होगा, स्वयं से दूर होते जाओगे। मेरेपन का जितना विस्तार है, 'मैं' की अनुभूति, उतनी ही क्षीण रहती है।

आप महावीर के जीवन के बारे में जानते हैं। आखिर क्या वजह थी कि उन्हें राजमहल छोड़कर जंगलों में जाना पड़ा? सब कुछ तो था उनके पास, पर महावीर ने आत्यंतिक कोशिश की, 'मेरे' से मुक्त होने की। राजमहल छोड़ा, परिवार छोड़ा। छोड़ते-छोड़ते अंततः वस्त्रों को भी छोड़ दिया, ताकि 'यह वस्त्र मेरा' यह कहने का भी मौका ही न मिले। 'मेरेपन' को तोड़ना, 'मैं' से जुड़ना है, 'मेरे' को जोड़ना 'मैं' से अलग होना है। 'मैं' का अर्थ आत्मा है, सहजानंदी शुद्ध स्वरूपी अविनाशी आत्मा। मेरे का सारा जाल कल्पनाओं से कल्पित है, सत्य और सुख का आभास भले ही हो, लेकिन हकीकत में ऐसा नहीं है यह। सत्य है—'मैं', 'आत्मा' और असत्य है—'मेरापन' तथा 'आसक्ति'।

मेरा जो असत् है, उस असत् का कहाँ से जन्म होता है और कहाँ अंत होता है? हकीकत में, 'मेरेपन' का जन्म हमारे भ्रम से होता है और उसका समापन हमारे भ्रम के टूट जाने से होता है। जो कुछ हमने 'मेरा' मान रखा है, उसे सिवाय भ्रम के क्या कह सकते हैं? जैसे कहीं अंधेरे में रस्सी पड़ी है और जैसे ही आपके पाँव की ठोकर लगी, रस्सी में हलचल हुई और आप चिल्ला पड़े—'साँप'! फिर लालटेन लेकर वहाँ आये, तो पता लगा

वहाँ साँप नहीं है, रस्सी है। रस्सी में सर्प को मानना, यह भ्रम था और क्षण भर बाद प्रकाश में रस्सी का दिखना, यही भ्रम का टूटना है। क्या साँप की एक क्षण में मृत्यु हो गई? नहीं। साँप न तो जन्मा था, न मरा था। जन्म हमारे भ्रम का हुआ और मृत्यु भी हमारे भ्रम की हुई।

कभी आपने अनुभव किया होगा कि आप फिल्म हॉल में बैठे हैं। निरंतर पर्दे पर सामने की ओर देखते रहते हैं, पर पीठ की ओर कभी नहीं देखते। पीछे कुछ होता ही नहीं। जो कुछ होता है, पर्दे पर सामने की ओर होता है—रंग, रूप, गीत, संगीत इत्यादि। सब कुछ सामने पर्दे पर ही चलता है। पर सच्चाई आप जानते हैं कि पर्दे पर कुछ नहीं होता। वह तो पूरा खाली होता है। जो कुछ होता है, पीठ के पीछे होता है। पर्दे पर किरणों का सारा जाल फैलता है, सब कुछ पीछे होता है—गीत-संगीत, रूप-रंग, सब कुछ वहाँ होते हैं, जहाँ प्रोजेक्टर लगा है। क्या आप प्रोजेक्टर का अर्थ समझते हैं? जिसे हम प्रोजेक्शन कहते हैं, हिन्दी में उसे हम प्रक्षेपित कहेंगे। अगर पीछे से प्रक्षेपण होगा तो दृश्य भी उभरेंगे। प्रक्षेपण समाप्त, तो पर्दा भी श्वेत!

हमारी आसक्ति और ममत्व-बुद्धि कुछ ऐसी ही है। कहीं कुछ सत्य नहीं, केवल सत्य का आभास भर है। मनुष्य का सबसे बड़ा अज्ञान यह है कि उसके आसपास जो कुछ होता है, उसी से वह जुड़ जाता है, तादात्म्य बैठा लेता है। जो कुछ हमें पकड़ ले, हम उसी में जुड़ गए। जो रंग हमारे इर्द-गिर्द हो, हम उसी से रंग जाते हैं। इतने गहरे रंग जाते हैं कि हम भूल जाते हैं कि जो रंग मेरे ऊपर हावी हो रहा है, मैं उससे पृथक् हूँ। हमारी हालत ऐसी हो जाती है, जैसे कैमरे के भीतर फोटो-प्लेट की होती है। जरा-सा भी उसके आगे से पर्दा हटाया, तो सामने के दृश्य को वह तुरंत पकड़ लेती है। एक सैकंड के दसवें हिस्से भर कैमरे का पर्दा हटता है, उसकी आँख खुलती है और भीतर की फोटो-प्लेट सामने के दृश्य को पकड़ लेती है। सामने चाहे झील हो या सागर उससे कोई फर्क नहीं पड़ता। छोटा-सा पत्थर हो या पहाड़ी, जो कुछ दिख जाता है, उसी के साथ वह 'एक' हो जाती है।

हम फोटो-प्लेट की तरह नहीं अपितु आईने की तरह जीने का प्रयास करें, दर्पण की भांति। दर्पण के सामने जो भी आता है, वह दिखाई पड़ता है, लेकिन जैसे ही सामने का दृश्य हटा, वैसे ही दर्पण खाली का खाली, उज्ज्वल। दर्पण पकड़ता नहीं है, वह प्रतिबिंबित अवश्य करता है। चाहे जितने दृश्य उसके सामने से गुजर जाएँ, पर दर्पण अपने स्वभाव में स्थिर रहता है। दर्पण हजार को देखकर निर्मल बना रहता है और फोटो-प्लेट एक को देखकर भी खराब हो जाती है। जो अनासक्त जीवन जी रहा है, उसका जीवन आईने की तरह होता है। वह किसी को प्रतिबिंबित अवश्य करता है, पर उसे पकड़ता नहीं है।

'मेरेपन' के विस्तार को फिर से संकुचित करो। ममता का विस्तार ही तो अहंकार का विस्तार करता है। आप जितनी चीजों के साथ 'मेरापन' जोड़ते हैं, उतना ही आपका अहंकार पुष्ट होता है। अपनी समझ पैदा करो खुद के भीतर। कहीं ऐसा न हो कि तुम पूरी जिंदगी सपनों का ही निर्माण करते रहो और विचारों का, माया-मोह और ममता का आरोपण करते रहो। परिणाम यह आयेगा कि तुम भले ही सत्य हो, लेकिन भ्रम में उलझे रह जाओगे। उज्ज्वलता के मार्ग तुम्हारे सामने आएँगे, पर तुम्हारा भ्रम, तुम्हारी आसक्ति, तुम्हारा सम्मोहन, ये सब

तुम्हें पीछे की ओर खींचते रहेंगे। अगर इसी तरह इन सबसे बँधे रहे, तो तुम्हारे जीवन की बहुत सारी संभावनाएँ दबी की दबी रह जायेंगी। संभव हो तो इस भ्रांति का भंजन करो कि संसार मेरा है। 'नहीं', यह तुम्हारा नहीं है, किसी का भी नहीं है। संसार सिर्फ संसार है। शेष जो कुछ हैं, हमारे मिथ्या आरोपण हैं, मिथ्यात्व का प्रभाव है। संसार में समाधि के सूत्र ढूँढ़ लेना, भ्रम से मुक्त हो जाना, जीवन में सम्यक्त्व का द्वारोद्घाटन करना है।

तीन स्थितियाँ हैं—बहिरात्मा, अंतरात्मा और परमात्मा। आदमी बहिरात्मा में जीता है। जब वह 'मेरापन' समाप्त कर लेता है तो अंतरात्मा की स्थिति में पहुँच जाता है और जिस दिन उसका 'मैं' मैं और मेरापन छूट जाता है, वह परमात्मा की स्थिति में पहुँच जाता है।

दुनिया में दुःख और सुख किसी पर निमित्त से नहीं आते हैं। ये दोनों आदमी की ममत्व-बुद्धि के कारण पैदा होते हैं। आदमी के अपने कृत्य ही उसके लिए सुख और दुःख की परिस्थितियों का निर्माण करते हैं। राग से ही द्वेष पैदा होता है। जहाँ राग ही नहीं होगा, वहाँ द्वेष भी नहीं होगा। यदि संयोग है, तो वियोग भी उसके साथ जुड़ा हुआ है। बिना विवाह किये क्या कभी तलाक होती है? जैसे-जैसे व्यक्ति का राग-भाव परिपुष्ट होता है, वैसे-वैसे ही विपरीत स्थितियों में उसका द्वेष-भाव भी परिपुष्ट होता है।

किसी भी चीज के प्रति आसक्ति और सम्मोहन बढ़ेगा तो अनुकूल संयोगों के बीच प्रतिकूल संयोग आने पर व्यक्ति का द्वेष-भाव भी परिपुष्ट होगा।

मनुष्य की स्थिति बड़ी दयनीय है। आदमी वृद्ध हो गया है, उसकी कमर झुक गई है, अंग गल रहे हैं, आँखों से कम दिखाई देने लगा है, मगर लालसाएँ कम नहीं हुई हैं। शरीर समाप्त होने जा रहा है, मृत्यु के करीब है, लेकिन तृष्णाएँ शांत नहीं हो रही हैं। उसकी कामनाएँ, लालसाएँ, तृष्णाएँ जीवित हैं। व्यक्ति के लिए सबसे बड़ा मिथ्यात्व यही है कि वह स्वयं तो चेतन तत्त्व है, लेकिन उसकी सारी आसक्ति अचेतन-जड़ पदार्थों के प्रति ही बनी हुई है।

क्या कभी आपने सोचा कि आसक्ति कितनी गहरी है? आदमी अपने शरीर को, इस माटी की काया को सजाने-सँवारने में पूरी जिंदगी लगा देता है। अरे, यह तो जड़ है। एक दिन माटी की काया, माटी में ही मिल जाएगी। एक दिन तो उसे राख होना ही है।

आदमी के रहने के लिए तो दो कमरों का मकान काफी है, लेकिन वह सात-मंजिला मकान बनवाता है। यह सब आसक्ति और तृष्णा के कारण ही होता है। शरीर को ढँकने के लिए दो जोड़ी कपड़े बहुत हैं, मगर आदमी आलमारियाँ भर कर कपड़े रखता है। औरतें साड़ियों की संख्या बढ़ाने में लगी रहती हैं। अपने जीवन को सफल बनाने की ओर उनका ध्यान ही नहीं जाता, क्योंकि उन पर सांसारिकता का ऐसा नशा छाया रहता है कि आत्मा के बारे में सोचने का उन्हें समय ही नहीं मिलता। आदमी जब आकांक्षाओं की पूर्ति में लग जाता है तो उसके लिए मोक्ष के रास्ते बंद हो जाते हैं। सादा कपड़ा पहनने से काम चलता है, मगर वह चमकदार और सजावटी कपड़ा लाने को उत्सुक रहता है। रोटी से पेट भर जाता है, मगर आदमी को बादाम-पिश्ता चाहिये। रहने के लिए झोंपड़ी काफी है, लेकिन मन को सात मंजिला मकान चाहिए। अब तक आदमी आकांक्षाओं की

पूर्ति के लिए ही जीता आ रहा है। अपनी आत्मा के साथ वह लगातार प्रवंचना कर रहा है।

बेहोशी में बहुत जी लिये, अब तो जागो। अब भी आँख न खुली, आसक्ति से छुटकारा नहीं पाया तो हालत और खराब होने वाली है। जब जागो, तभी सवेरा है, लेकिन जब जागोगे तभी तो काम चलेगा।

आदमी ने आसक्ति और सम्मोहन के चलते अपनी आकांक्षाएँ इतनी बढ़ा ली हैं कि उन्हें देख-देखकर मुझे तो हँसी आती है। केवल मधुरता के प्रति आसक्ति हो तो चलेगा, लेकिन आदमी तो कड़वाहट के प्रति आसक्त है। सम्मोहन के कितने-कितने तार बँधे हैं! सम्मोहन तो समास नहीं होगा, हाँ, जिन्दगी जरूर समास हो जाएगी। जादूगर अपना जादू दिखाने के लिए दर्शकों को सम्मोहित करता है ताकि वह जो बोले, दर्शकों को वैसा ही नजर आए। हमारी दशा वैसी ही हो गई है। हमें जड़ पदार्थ के अलावा और कुछ भी दिखाई नहीं देता। मैं आपसे आग्रह करता हूँ कि आसक्ति अगर पूरी तरह समास न हो सके तो आप सम्मोहन को कम करने का प्रयास जरूर करें।

आदमी का पुद्गल पदार्थों के प्रति सम्मोहन जैसे-जैसे कम होता जाएगा, वह आत्मा की यात्रा शुरू करने योग्य होता जाएगा। एक बार यह यात्रा शुरू करने की देर है, फिर मंजिल ज्यादा दूर नहीं होगी। सम्मोहन खत्म नहीं हुआ तो पूरी जिन्दगी भले ही आराधना, सामायिक कुछ भी करते चले जाना, पर आत्म-बोध उपलब्ध नहीं कर सकोगे। जिस व्यक्ति पर जिस चीज का सम्मोहन हावी है, वह उसी के बारे में सोच-सोचकर जिन्दगी गुजार देगा। सामायिक में बैठेगा तो भी उसका ध्यान इसी में रहेगा कि पास वाले मकान के मालिक को कैसे नीचे गिराया जाए? औरतें बैठों तो हैं प्रवचन में, मगर सोच रही हैं कि आज चतुर्दशी है, घर जाकर कौन-सी सब्जी बनाऊँ? हाथ में माला घूम रही है, मगर मन कहीं और ही यात्रा कर रहा है। व्यक्ति मंदिर में बैठा पूजा कर रहा है और मन में सोच रहा है कि दुकान में अमुक माल कम हो गया है अतः उसका ऑर्डर भेजना है। मंदिर में भी संसार का सम्मोहन उस पर हावी रहता है।

जब तक सम्मोहन हावी रहेगा, आदमी मंदिर तो जाएगा, लेकिन वास्तव में वह दुकान में ही बैठा होगा। उसका शरीर मंदिर में होगा, मगर मन दुकान में रहेगा। इसलिए कहता हूँ कि मंदिर जाओ, गुरु के पास जाओ या सामायिक करो तो तीन कार्य करना अर्थात् बहरे हो जाना, आँखें बंद कर लेना और मुँह को ताला लगा लेना। ठीक महात्मा गांधी के बंदरों की तरह।

बहरे इसलिए हो जाना, ताकि आसपास बैठे लोग क्या बोल रहे हैं, तुम्हें सुनाई न दे। अंधे इसलिए हो जाना, क्योंकि भगवान या गुरु को भीतर की आँखों से देखना है, ताकि परमात्मा के अलावा और कुछ न दिखे और गूंगे इसलिए ताकि किसी से वार्तालाप न करना पड़े। वार्तालाप हो तो सिर्फ उस परम सत्ता के साथ, जिसके लिए होठों को हिलाने की कोई आवश्यकता नहीं होती।

महावीर जिसे प्रज्ञा का नेत्र कहते हैं, उसे शिव का तीसरा नेत्र भी कहा जाता है। जब तक यह नेत्र नहीं खुल जाता, तब तक व्यक्ति मंदिर जाकर बाहर से तो प्रतिमा को निहार लेगा, लेकिन प्रतिमा में छिपे हुए परमात्म-तत्त्व को नहीं पहचान पाएगा, उससे साक्षात्कार नहीं कर पाएगा। प्रज्ञा का नेत्र जाग्रत होने पर ही भीतर

की आत्मा को निहार सकोगे, इसलिए बाहर की आँखें बंद करके ही मंदिर में जाना।

प्रवचन भी सुन रहे हो और आसक्ति का दायरा भी बढ़ा रहे हो तो ऐसा प्रवचन किस काम का ? सत्य पर प्रवचन सुना, लेकिन दुकान जाकर फिर झूठ बोलने लगे, डंडी मारने लगे। अचौर्य पर प्रवचन सुना, लेकिन फिर चोरी करने निकल पड़े तो फिर प्रवचन सुनने ही मत जाओ। कम से कम जीवन में दोहरापन तो नहीं आएगा। प्रवचन सुनने जाओ तो उस पर अमल भी करो। प्रवचन सुनकर, उस पर चलने का प्रयास करोगे तो प्रवचन करने वाले संत का श्रम भी सार्थक होगा और तुम्हारे जीवन में भी बदलाव आएगा। एक समय में एक ही काम करो और उसी में पूरी तरह डूब जाओ।

महाराज जनक के बारे में कहते हैं कि वे प्रतिदिन मिथिला के बाहर स्थित जंगल में ऋषि याज्ञवल्क्य के पास प्रवचन सुनने जाया करते थे। इस प्रवचन-सभा में और भी हजारों लोग आते थे। एक दिन लोगों ने देखा कि प्रवचन का समय हो गया है लेकिन ऋषि ने प्रवचन शुरू नहीं किया है। पता चला कि महाराज जनक अभी तक नहीं आए हैं, इसलिए देरी हो रही है। वहाँ बैठे हुए लोगों में कानाफूसी होने लगी कि इतने बड़े ऋषि भी एक राजा के इंतजार में बैठे हैं। हम इतने लोग यहाँ प्रवचन सुनने को बैठे हैं, मगर ऋषि राजा का इंतजार कर रहे हैं। यह तो उचित नहीं है। कानाफूसी हो ही रही थी कि महाराज जनक वहाँ पहुँच गए। इससे पहले कि याज्ञवल्क्य प्रवचन शुरू करते, कुछ श्रोता खड़े हो गए और पूछने लगे कि 'महाराज हमारी एक शंका का समाधान करें। आपकी नजर में तो राजा और आम आदमी एक समान है, फिर आपने राजा जनक का इंतजार क्यों किया ? आपको तो समय पर प्रवचन शुरू कर देना चाहिए था। आपने ऐसा क्यों किया ?'

याज्ञवल्क्य ने उनसे कहा कि प्रवचन के बाद इसका उत्तर दूँगा। इसके साथ ही उन्होंने प्रवचन शुरू कर दिया। थोड़ी ही देर हुई थी कि मिथिला में आग की लपटें दिखाई देने लगीं। चीख-पुकार मच गई। प्रवचन में बैठे लोग उठकर भागे, उन्हें अपने-अपने सामान की, घर की चिंता थी। कुछ ही देर में प्रवचन-स्थल खाली हो गया। वहाँ केवल जनक और याज्ञवल्क्य रह गए। ऋषि ने पूछा, 'राजन्, क्या आप नहीं जाएंगे ? आपकी मिथिला तो जल रही है।'

जनक ने शांत स्वर में कहा—'महाराज, मेरा तो मेरे पास है। मिथिला भले ही जले पर मेरा क्या जल रहा है ? राजमहल, धन सम्पत्ति मेरी नहीं है, वह तो मुझे ईश्वर ने राज्य चलाने के निमित्त दी है। अब ईश्वर की मर्जी ही ऐसी है कि सब जलकर नष्ट हो जाए तो मैं क्या कर सकता हूँ ? आप तो प्रवचन जारी रखें। मुझे इस ज्ञानगंगा से वंचित न रखें।'

याज्ञवल्क्य ने प्रवचन जारी रखा। थोड़ी ही देर बाद श्रोता एक-एक कर लौटने लगे। जब प्रवचन-स्थल पूरा भर गया तो याज्ञवल्क्य ने पूछा कि 'आप लोग आग बुझाकर इतनी जल्दी कैसे आ गए ?' लोगों ने कहा कि वहाँ कोई आग ही नहीं लगी थी। इस पर याज्ञवल्क्य ने उन्हें उनका प्रश्न याद दिलाते हुए कहा—'आपने आज पूछा कि मैंने प्रवचन शुरू करने से पहले महाराज का इंतजार क्यों किया ? इसका जवाब अब देता हूँ। दरअसल, यहाँ राजा जनक ही वास्तव में प्रवचन सुनने आता है। वह सब चीजों से निःस्पृह होकर आता है इसलिए मैं



अपने 'श्रोता' का इंतजार कर रहा था। आप लोग तो आग लगते ही प्रवचन छोड़ भागे। मैं तो आपको आत्मतत्त्व से 'साक्षात्' करवा रहा था, मगर आप दुनियादारी की चीजों को बचाने दौड़ पड़े। मैं तो अनश्वरता का पाठ पढ़ा रहा था, और आप नश्वर को बचाने दौड़े। जिसे आप बचाने दौड़े वह तो एक दिन नष्ट होना ही था। बताइये, सच्चा श्रोता कौन है, राजा या आप?' लोगों के सिर झुक गए।

इसलिए कहता हूँ कि आपने जो ये बेकार के आसक्ति-भाव पाल रखे हैं, उन्हें अपने से अलग करो। क्या आपने कभी सोचा है कि संत पहाड़ों पर साधना करने क्यों जाते थे? इसलिए कि वहाँ जाकर वे अपनी आसक्ति, सम्मोहन को छोड़ सकें। यहाँ तो चारों तरफ सम्मोहन का संसार बसा हुआ है। मोक्ष पाने की पहली शर्त यही है कि आसक्ति अथवा सम्मोहन को धीरे-धीरे कम करो। इनसे हमारे जो प्रगाढ़ सम्बन्ध हो गए हैं, उन्हें हल्का करने की कोशिश करो। आसक्ति खत्म करो।

मनुष्य ने अपना जीवन अभिमन्यु की तरह बना लिया है। वह संसारचक्र में फँसता जा रहा है। इस चक्र से निकलना उसके बस का रोग नहीं है। इसका कारण यह है कि वह आधे-अधूरे ज्ञान के साथ इस चक्र में प्रवेश करता है और जो व्यक्ति इस चक्र से निकलने में कामयाब हो जाता है, दुनिया उसे ही महावीर और बुद्ध कहती है। लेकिन सारी दुनिया अभिमन्यु की तरह चक्र में फँसती जा रही है। हमारे सम्मोहन ही ऐसे हैं।

क्या कभी आपने आत्मचिंतन किया कि आपने अपने मकान की छत पर कितना कचरा डाल रखा है? पुरानी बोतलें, डिब्बे एकत्र कर रखे हैं। भला इनका क्या करोगे, यह भी आप नहीं सोच पाते। जड़ पदार्थों से ऐसा सम्मोहन किस काम का? हमारा सम्बन्ध भगवान के प्रति हो तब तो चिंता नहीं, मगर हम तो जड़ पदार्थ, पुद्गल पदार्थ के कचरे के प्रति सम्मोहन रखते हैं।

व्यक्ति का सम्मोहन अपने माँ-बाप के प्रति, पुत्र के प्रति, पत्नी के प्रति हो तो भी समझ में आता है लेकिन हम तो कचरे की तरफ भागते हैं। और यह दौड़ कभी खत्म नहीं होती। महावीर अनासक्त योग की बात करते हैं। आसक्ति ही 'संसार' का दूसरा नाम है और अनासक्ति 'परीत संसार' का दूसरा नाम है। इसलिए साधक के लिए जरूरी है कि वह अपनी आसक्तियों के दायरे को कम करे। जिसने जीवन भर नोट की गड़ियाँ गिनी हो, वह मरते समय भी नोटों की गड़ियाँ गिनता रहेगा। उसकी आँख तब भी नहीं खुलेगी और प्राण पखेरू उड़ जाएँगे।

मृत्यु तो परीक्षा है। जीवन भर कुछ नहीं पढ़ा तो अंत समय में तो अनुत्तीर्ण होना ही है। जीवन की स्कूल आपको एक अवसर देती है कि आप अपने को पढ़ लें, मगर आदमी भीतर की यात्रा शुरू नहीं कर पाता। जो व्यक्ति जीवन से कुछ नहीं पा सका, वह मृत्यु से क्या पाएगा? जो आदमी जितनी गहरी आसक्ति में जीता है, उसकी मृत्यु भी उतनी ही गहरी आसक्ति में होती है।

जीवन भर कपड़े मापने-काटने वाला व्यक्ति अंत समय भी कपड़े काटता ही नजर आएगा। वह उस अंतिम घड़ी में भी प्रभु-स्मरण न कर पाएगा। मैंने लोगों के कई तरह के अनुभव सुनकर ऐसी धारणा बनाली है। कोई कहता है कि मेरे पिताजी बड़े बेटे को याद करते-करते चले गए। बड़ा बेटा उनकी मृत्यु के समय विदेश में था। प्रायः हर व्यक्ति मरते समय अपने सम्बन्धियों के बारे में पूछता है। मेरा बेटा कहाँ है, मेरी पत्नी कहाँ है?

कोई यह नहीं कहता कि मेरा परमात्मा कहाँ है ?

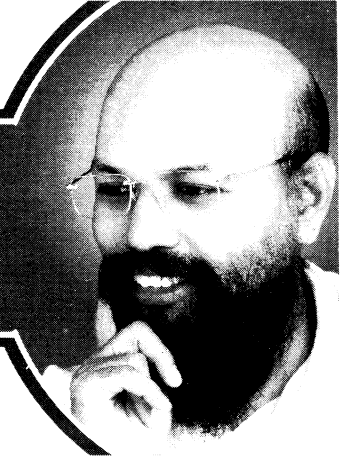
मरते समय भी सम्मोहन समाप्त नहीं हुआ। मरते समय व्यक्ति अपने बेटे से कहता है, 'दुकान का ख्याल रखना! घर का ख्याल रखना!' ऐसी कई हिदायतें देकर वह जाता है। भला कोई उससे पूछे कि तुम्हारे पिता ने भी तो तुमसे कहा था कि दुकान और घर का ख्याल रखना, मगर तुम तो इन्हें छोड़कर जा रहे हो। तुम्हारे बेटे भी इसे छोड़ कर जाएंगे।

आदमी जन्म से मृत्यु तक पूरा जीवन रोते-रोते पूरा करता है। अगर मरते समय भी उसकी आँखों में आंसू हैं तो यह उसका बड़ा दुर्भाग्य है। जड़ पदार्थ के प्रति सम्मोहन रखते हो। जरा चिंतन तो करो, इससे आखिरकार क्या मिलने वाला है। अरे, आखिरी वेला में तो इस सम्मोहन का जूआ उतार फेंको, कुछ उपलब्ध करते जाओ। जड़ के लिए जीवन पाया, जीया और मर गए।

व्यक्ति के मन में जब तक सम्यक्त्व भाव पैदा नहीं होगा, वह मिथ्यात्व के ही चक्कर लगाता रहेगा। सबसे पहली चीज यही है कि आदमी आसक्ति को छोड़े और अपने भीतर अनासक्त-भाव पैदा करे। छोटे-छोटे सम्मोहनों को पहले हटाओ। आदमी इन छोटे सम्मोहनों से ही नहीं उबर पाता। दिल्ली से जोधपुर आना है। आपने रेल में सीट रिजर्व करवाई। अब इस सीट के प्रति ही आपकी आसक्ति हो गई। 'यह मेरी सीट है।' भले आदमी, जोधपुर का स्टेशन आते ही सीट तो डिब्बे में ही रह जाएगी, तुम्हें जरूर सीट को छोड़ना पड़ेगा। फिर ऐसा मोह क्यों? जीवन भी एक आरक्षण ही तो है। शरीर रेल का डिब्बा है, जितने वर्षों का आरक्षण है, इस डिब्बे में उतने ही दिन रह सकते हो। आखिरकार तो डिब्बा यहीं रहेगा और तुम्हें इसे छोड़कर जाना पड़ेगा। इस सत्य को पहचान कर उसे जीवन में उतारना होगा।

यहाँ सब कुछ मिट्टी है। शरीर भी तो मिट्टी है। इसके प्रति कैसा सम्मोहन? हाथ में जो यह सोना चमक रहा है, वह भी मिट्टी है। वास्तव में तो मिट्टी का मिट्टी के प्रति ही आकर्षण है। मनुष्य के जीवन का सबसे बड़ा मिथ्यात्व यही है कि वह जड़ के प्रति आसक्ति रखने में ही उसे अपना जीवन मानता है। हम आसक्ति से दूर होकर आत्मबोध, आत्म-रूपांतरण के लिए कदम बढ़ाएँ, तब तो हमारे लिए फायदा है। जीवन तो पल-पल समाप्त हो रहा है। इस जीवन में ही जीवन की असलियत को जो व्यक्ति पहचान ले, वही व्यक्ति बहिरात्मा से अंतरात्मा और फिर परमात्मा में प्रवेश कर सकता है अन्यथा जीवन मात्र माटी से माटी की खिलवाड़ बन कर रह जायेगा। जीवन का कोई सार्थक उपयोग नहीं होगा। करोड़ों का जीवन कोड़ी के भाव बिक जाएगा। हाँ, इन सब में जिसे हानि होगी, वह तुम्हारी ही आत्मा की होगी। काश! हम जीवन में एक बार प्रयास करें, जड़ से मुक्ति का, 'पर' से मुक्ति का, स्व में स्थिति का।

# सर्वोदय हो धर्म का



विश्व में अध्यात्म और धार्मिक संस्कृति का सदैव महत्त्व रहा है। इस संस्कृति को आगे बढ़ाने, इसमें प्राण फूंकने हेतु समय-समय पर महापुरुष धरती पर अवतरित होते रहे हैं। इसलिए इस धरती पर कोई भी अध्यात्म का प्रवर्तक नहीं हो सकता, सभी अध्यात्म के दिव्य मार्ग के प्रेरक रहे हैं। अध्यात्म तब भी था, जब इस धरती पर राम और कृष्ण भी न थे। महावीर और बुद्ध भी न थे। इसलिए कोई यह कह भी नहीं सकता कि अध्यात्म का प्रवर्तक कौन है? ये सब लोग अध्यात्म के उपदेष्टा जरूर रहे, पर इनके बाद के लोगों ने, इन्हीं के उपासकों ने धर्म-अध्यात्म को विभिन्न सम्प्रदायों का जामा पहनाया और मनुष्य को धार्मिक बनाने की बजाय अपने सम्प्रदाय की भीड़ बढ़ाने में उसका उपयोग करने की कोशिश की। इसका परिणाम यह हुआ कि लोगों ने धर्म और अध्यात्म को तो पीछे छोड़ दिया और उनके नाम पर अपने-अपने झंडे गाड़ दिये।

इस धरती पर जितने भी आध्यात्मिक लोग हैं, जो पूजा, प्रार्थना, सामायिक और यज्ञ-हवन इत्यादि करते हैं, आवश्यक नहीं है कि वे सब धार्मिक ही हों। वे धर्म से, अपने जीवन से जितने जुड़े हैं, उससे अधिक साम्प्रदायिकता में बँधे हैं। मनुष्य के लिए सहज है कि वह संसार के कारागृह से मुक्त हो जाये, लेकिन इस मुक्ति के बाद भी क्या ऐसा नहीं होता है कि उसके हाथों में सम्प्रदाय तथा पंथ-परम्परा की बेड़ियाँ आकर उसे जकड़ लेती हैं। व्यक्ति प्रभुता को उपलब्ध करने के लिए आत्मनिर्णय की क्षमता नहीं रख पाता और 'प्रभुता' को पाने की बजाय सम्प्रदाय को फैलाने में रह जाता है।

साम्प्रदायिक कट्टरता में जीने वाले लोगों का धर्म और आध्यात्मिकता से कोई लेना-देना नहीं है। लोग धर्म से नहीं जुड़े हैं, अध्यात्म से नहीं जुड़े हैं, सत्य और ईमान से भी नहीं जुड़े हैं। सब-के-सब किसी-न-किसी सम्प्रदाय से जुड़े हैं। किसी से भी पूछो तो वह यह नहीं कहेगा कि वह आध्यात्मिक है या धार्मिक है। वह यह नहीं कहता कि मैं ईमानदारी पर चलने वाला आदमी हूँ। वह तो यही कहेगा- 'मैं हिन्दू हूँ, मैं मुसलमान हूँ, मैं ईसाई हूँ।' हम लोगों ने धर्म के नाम पर अपने-आपको खेमों में बाँध-बाँट लिया है। हमारा लक्ष्य प्रभुता को पाना नहीं अपितु अपने सम्प्रदाय को फैलाना हो गया है। सब अपने सम्प्रदाय को फैलाने में लगे हैं, अपने समूह को प्रसारित करने में लगे हैं। भगवत्ता जो सम्प्रदाय की चारदिवारी से ऊपर है, उसे फैलाने या पाने में कौन लगा है ?

हिन्दुत्व और जैनत्व हमारी आराधना की पहचान हैं। इन्हें सम्प्रदाय का रूप देकर इनके लिए संघर्ष करना अच्छा नहीं है। कोई जैन है तो महावीर को फैलाना चाहेगा, हिन्दू राम-कृष्ण को, बौद्ध बुद्ध को, ईसाई ईसा को और मुसलमान मोहम्मद को फैलाना चाहेंगे। फैलाओ इन नामों के पार उनकी आत्मगत भगवत्ता को। आदमी तो झगड़ों में पड़ा हुआ है। मैं जो कहूँ, वह सत्य और तुम जो कहो, वह सब झूठ। यह सब साम्प्रदायिक झगड़ों की बातें हैं। इस देश ने जब-जब भी साम्प्रदायिकता में अपने को बाँटा है, नुकसान ही उठाया है। यूँ तो सब भाई-भाई हैं, लेकिन सम्प्रदाय के नाम पर हम बाँट जाते हैं। तो क्या धर्म-सम्प्रदाय बाँटने का काम करता है ? क्या धर्म हमारी मैत्री में दरार डालता है ? नहीं, धर्म ये सब नहीं करवाता। साम्प्रदायिकता के नाम पर आदमी ही इसे हवा देता है, 'मजहब नहीं सिखाता, आपस में वैर रखना।'

अब ताज्जुब की बात देखो। तुम सारे काम एक साथ कर लेते हो। एक साथ व्यापार कर लोगे, भोजन कर लोगे, एक मकान में रह लोगे, अपनी बेटी उसके घर और उसकी बेटी तुम्हारे घर आ जाएगी, पर जैसे ही धर्म का नाम आएगा, तुम परस्पर बाँट जाते हो। कितने-कितने विभाजन हुए हैं धर्म के नाम पर ! हिन्दुत्व और जैनत्व को ही देखो, कितने विभाजनों से इन्हें गुजरना पड़ा है। गण-गच्छ-पंथ-परम्परा-गुरुआमना तुम्हारे लिए प्रमुख है जबकि जैनत्व और हिन्दुत्व पीछे रह गया है। सब अपने-अपने सम्प्रदायों को फैलाने में लगे हैं, तो भला धर्म और अध्यात्म को कौन फैलाएगा, यह भी क्या आपने कभी सोचा है ? अध्यात्म को हमसे आशाएँ हैं। अब ऐसा युग आ गया है जब हम मात्र नाम के धर्म से ऊपर उठकर जीवन के धर्म में जीने की कोशिश करें।

साम्प्रदायिक संकीर्णता के कारण इस देश का उत्थान कम और पतन अधिक हुआ है। वर्तमान में जो धर्म का तमाशा चल रहा है, वह और भी अधिक खतरनाक है। इस विश्व में कभी राम पैदा हुए, तो कभी कृष्ण, कभी महावीर पैदा हुए, तो कभी बुद्ध, कभी ईसा पैदा हुए, तो कभी सुकरात, लेकिन उन्होंने अपने सिद्धान्तों के लिए मनुष्य जाति का विभाजन कभी भी नहीं किया। इनका उद्देश्य मनुष्य का आध्यात्मिक विकास करना था। भारत ने धर्म के नाम पर जितना विकास किया, साम्प्रदायिकता के नाम पर उतना ही पतन किया है।

इतिहास बताता है कि पिछले हजारों वर्षों में देश में कम-से-कम पाँच हजार युद्ध हुए और उनमें दस करोड़ इंसान बे-मौत मारे गये। इन सब झगड़ों का कारण रही साम्प्रदायिक संकीर्णता। अपने धर्म को फैलाने के

नाम पर अगर तुम तानाशाही चलाते हो, मानवता की ही हत्या करते हो, तो चाहे तुम्हारा आराध्य 'ईश्वर' हो या 'अल्लाह', तुम्हें इसके लिए वे कभी माफ नहीं करेंगे। धर्म हमें बाँटता नहीं है। धर्म हमें अलग-थलग नहीं करता। धर्म हमें एक दूसरे से विपरीत दिशा में भी नहीं ले जाता। धर्म तो साथ-साथ चलने की प्रेरणा देता है।

वेद कहते हैं- 'संगच्छध्वं, संवदध्वं।' साथ-साथ चलो, साथ-साथ जीओ। जहाँ ऐसा होता है वहाँ मनुष्य का विकास होता है। इसलिए जो लोग कहते हैं कि धर्म बाँटता है, वे गलती पर हैं। वे भूल जाते हैं कि धर्म कभी ऐसा नहीं कहता। तुम्हारे भगवत् पुरुषों ने ऐसा कभी नहीं कहा कि स्वार्थी बनकर अकेले चलो। भारत ने तो 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की बात कही है। पृथ्वी पर रहने वाले सभी लोग एक परिवार के सदस्य हैं। अपने लिए, अपने परिवार के लिए तो हर कोई त्याग कर देगा, लेकिन दूसरों के लिए जीना ही तो महानता है।

जो दूसरों के लिए मरता है, जीवन उत्सर्ग करता है, उसी के जीवन में उत्सव पैदा होता है। उसी के जीवन में राम का शौर्य और कृष्ण का कर्मयोग पैदा होता है। वही व्यक्ति महावीर की अहिंसा और बुद्ध की करुणा को आत्मसात् कर पाता है। हमने धर्म को संप्रदाय का रूप दे दिया है जिससे युवकों के मन में यह बात घर कर चुकी है कि धर्म हमें बाँटता है। वे धर्म से कटने लगे हैं। धर्म में कभी दो पर्युषण नहीं होते। दो पर्युषण पर्व तो सिर्फ सम्प्रदाय में ही होते हैं। धर्म में कभी दो महावीर जयंतियाँ नहीं होती। दो जयंतियाँ तो सिर्फ हमने मनानी शुरू कर दी हैं। हम अपनी-अपनी बात पर अड़े रहते हैं। जब-जब धर्म सम्प्रदाय के नाम पर नीलाम होता है, तब-तब धर्म का विकास अवरुद्ध हो जाता है। और हमने ऐसा कर दिया है। हमारे शास्त्र भले ही अनेकान्त की दुहाई देते रहें, पर हमारे सारे-विचार तो एकांतवादी ही रहे।

मेरे देखे चाहे बाबरी मस्जिद गिरी, चाहे मंदिर बना, देश को तो इससे कोई लाभ नहीं हुआ। उलटे इस चक्कर में इंसानियत मर गई। जब मस्जिद गिरी, देश की ऊंची कुर्सी पर बैठे प्रधानमंत्री ने घोषणा की कि मस्जिद दुबारा बनवा दी जाएगी, मंदिर गिरे तो वे भी बनवा दिए जाएंगे, लेकिन इनके गिरने-बनने के चक्कर में जो लोग मरे हैं, उन्हें कौन जीवित करेगा? मंदिर-मस्जिद तो बनते रहेंगे, लेकिन इंसान का क्या होगा? उसे कौन जीवित करेगा? हम पर बहुत बड़ा दायित्व है कि हम मरती इंसानियत को जीवित रखने में जुटें, अध्यात्म को नीचे गिरने से रोकें। संभव है, ऐसा करके सौ साल बाद अहिंसा और प्रेम की नींव पर हम ऐसा मंदिर खड़ा कर पाएँ, जिस मंदिर पर मानवता को गर्व होगा।

हम यदि जैन धर्म को ही लें तो ऋषभदेव से लेकर महावीर तक कई वर्ष बीते लेकिन जैन धर्म में कभी कोई खास विभाजन नहीं हुआ। लेकिन महावीर के बाद के ढाई हजार वर्षों में ही हम लोगों ने अपने धर्म को कई भागों में बाँट दिया। संसार के जितने भी धर्म हैं, वे सब साम्प्रदायिकता का रूप ग्रहण कर विभाजित होते चले जा रहे हैं। इसलिए हमें धर्म की परिभाषा फिर से समझनी होगी।

सिक्खों के गुरु यही समझाते रहे कि सिक्ख धर्म सबसे अच्छा है। जैन धर्म वाले भी यही कहते हैं कि जैन धर्म सबसे अच्छा है। शंकराचार्य समझाते रहे कि वैदिक धर्म सबसे अच्छा है। पादरी समझाते रहे कि ईसाई धर्म श्रेष्ठ है और मौलवी इस्लाम का गुणगान करते रहे, लेकिन किसी ने यह नहीं कहा कि मानव-धर्म सबसे श्रेष्ठ है।

करें हम मानव का सम्मान ।  
मानवता के मंदिर में हो, प्रेम का अमृत पान ॥  
दुनिया है इक सुंदर बगिया, हर मज़हब इक डाली ।  
सत्य, प्रेम के फूल खिले हैं, सबका एक ही माली ।  
मानवता का पाठ पढ़ाते, सारे धर्म समान ॥  
हर प्राणी है प्रभु की प्रतिमा, हर घर उसका मंदिर ।  
मंदिर-मस्जिद-गिरजे सारे, उसकी पूजा के घर ।  
हिन्दू-मुस्लिम-सिक्ख-ईसाई, सबका एक ही गान ॥  
मानवता के सरवर पर हम, ऐसा वृक्ष लगाएँ ।  
छाया दे जो पथहारों को, सबकी प्यास बुझाए ।  
भूखों को भोजन देकर ही, पूजें श्री भगवान !

लोगों के मन में बार-बार विचार उठता है कि धर्म का सत्य आखिर क्या है ? एक व्यक्ति नग्न मूर्ति की पूजा करता है, दूसरा वस्त्र पहनी मूर्ति को पूजता है । कोई गणेश के मंदिर में जाता है तो कोई शिव के मंदिर में । कोई दरगाह में जाता है तो कोई यीशू के आगे जाकर आँखें बंद कर खड़ा हो जाता है । प्रश्न उठता है कि परमात्मा के पास कौन जाता है ?

दो पड़ौसी हैं । एक, चींटी को बचाने को धर्म मानता है, तो दूसरा, बकरे की बलि देकर अपना धर्म जाहिर करता है । कौन धार्मिक हुआ ? उत्तर मिलेगा, चींटी को बचाने वाला । मगर दूसरा व्यक्ति कहेगा, 'मैंने धर्म के नाम पर बलि दी है ।' इसमें इतनी असमंजसता है कि स्पष्ट अन्तर नहीं मिलता । दरअसल, धर्म अपने सिद्धान्त और मूल संस्कृति को खोता जा रहा है । धर्म के मूल सिद्धान्त पीछे छूटते जा रहे हैं । धर्म के नाम पर झगड़े होने लगे हैं । वास्तव में इन झगड़ों का धर्म से कोई लेना ही देना नहीं है । चींटी को बचाने वाला और बकरे को मारने वाला, दोनों ही खुद को धार्मिक कह रहे हैं ।

आखिर धर्म क्या है ? बार-बार यह प्रश्न उठता है । धर्म की परिभाषा पढ़ने और समझने लगे तो धर्म जीवन की निर्मलता है, धर्म जीवन की पवित्रता है, धर्म जीवन में शांति लाता है, धर्म मानवता की मुंडेर पर जलता दीया है, वह मोहब्बत का चिराग है । जिस धर्म में ये सब गुण नहीं, वह धर्म नहीं, साम्प्रदायिकता का एक ऐसा खेमा बन जाता है, जिसमें से हिंसा और मारकाट ही निकलते हैं । धर्म वह नहीं है जो हमें एक-दूजे से अलग करता है । ये सब तो खेमे हैं । धर्म तो कभी अलग-थलग नहीं करता, वह तो हमें जोड़ता है । जो वास्तविक धर्म होता है, वह सदैव मनुष्य को आत्मौपम्य के भाव ही सिखाता है ।

आप कभी प्रयाग गए होंगे । वहाँ तीन नदियों का संगम देखा होगा । अलग-अलग दिशाओं से आकर ये

नदियाँ 'त्रिवेणी' बन जाती हैं, जब वे एक-दूजे में विलीन हो जाती हैं फिर आप नहीं बता सकते कि कौन-सा पानी किस नदी का है ? ऐसे ही धर्म भी तो संगम है जो सभी को अपने में विलीन कर एक स्वरूप बना देता है, लेकिन लोग किनारे खड़े रहते हैं क्योंकि संगम में उतरने से उन्हें डर लगता है ।

धर्म ऐसा संगम है जो हमें भाईचारे का संदेश देता है । प्रेम, शांति, शुद्धि और मुक्ति धर्म की मूल आत्मा है । यही कृत्य है और यही फल है । धर्म तो एक-दूसरे को गले लगाना सिखाता है । एक-दूजे के काम आना सिखाता है । आपको वेदों में कहीं नहीं मिलेगा कि एक-दूजे के प्रति हम वैर-वैमनस्य का भाव फैलायें । आगमों और पिटकों में भी नहीं मिलेगा कि मंदिर और मस्जिद के नाम पर झगड़े करो । बाइबिल, कुरान और गीता में कहीं नहीं लिखा है कि धर्म के नाम पर कत्ले-आम करो । इसलिए आज जो धर्म हमारे सामने है, उसमें धर्म की मूल आत्मा गायब है । वह तो उस देह की तरह है, जो दिखने में तो देह ही है पर आत्म-तत्त्व उससे अलग हो गया है । भला शव में शिवत्व कैसे साकार हो पायेगा ?

शरीर में आत्मा है तो वह सजीव है, अन्यथा निर्जीव । शरीर मुर्दा है । धर्म आत्मा है, सम्प्रदाय शरीर है । आज हालात देखकर तो यों लगता है मानों आत्मा हमारे हाथ से छिटक गयी है और केवल शरीर ही बचा है । हम अगर साम्प्रदायिक कट्टरता को धर्म से निकाल दें तो बहुत कुछ फर्क पड़ सकता है, अन्यथा हम धर्म की मौलिकता को अंगीकार नहीं कर पाएँगे और हम सभी अपने सम्प्रदाय की मान्यतानुसार धर्म को मोड़ देते रहेंगे ।

एक मौलवी और एक पंडित में गहरी दोस्ती थी । दोनों अलग-अलग स्थानों पर रहते थे । प्रति सप्ताह एक-दूसरी को पत्र लिख ही दिया करते थे । एक बार मौलवी ने पंडित को पत्र लिखा कि 'मेरे गांव की मस्जिद पुरानी हो गई है । उसकी हालत जर्जर है, इसलिए मैं इसका जीर्णोद्धार करवाना चाहता हूँ । इसमें तुम भी मुझे मदद करो । अगर हो सके तो तुम एक हजार रुपए भेज दो ।'

पंडित परेशान ! मस्जिद निर्माण के लिए पैसे दूँ तो मेरा धर्म कलंकित होता है । नहीं दूँ तो दोस्ती टूटती है । वह काफी परेशान हो गया । कोई रास्ता नहीं सूझा, तो उसने अपने वकील से सलाह-मशविरा किया । वकील ने उसे बहुत अच्छी राय दी । उसने कहा कि तुम अपने दोस्त को पत्र भेज दो कि 'मैं एक हजार रुपये भिजवा रहा हूँ, लेकिन इनका उपयोग मस्जिद के निर्माण में मत करना । मस्जिद के जीर्णोद्धार के लिए तुम्हें उसे पहले गिराना तो पड़ेगा ही । उस गिराने के काम में मेरे एक हजार रुपए का उपयोग कर लेना ।'

यह छल है, व्यक्ति का अपने खुद के साथ । वह दूसरों के धर्म के रचनात्मक कार्यों में सहयोग से पीछे हट जाता है । हम मंदिर-मस्जिद को गिराने की नहीं अपितु, प्रेम भाषा सीखें । हमारी सोच सृजनात्मक हो । तुम आगे नहीं बढ़ो, तो कोई बात नहीं किन्तु जो आगे बढ़ रहा है, उसके मार्ग में बाधक मत बनो । तुम्हारा पड़ोसी आगे बढ़ता है तो बढ़ने दो । उसके पैरों में टंगड़ी क्यों मारते हो ? मानवता के लिए यह प्रवंचना है । तुम धर्म करना चाहते हो, तो सबसे बड़ा धर्म यही है कि एक-दूसरे के काम आओ । प्यार-वात्सल्य, स्नेह बांटो । अगर किसी के विकास में तुम सहयोगी बनते हो, तो यह तुम्हारा सौभाग्य है ।

एक बात हमेशा याद रखें । यहाँ जो कुछ पाया है, सब माटी में समाने वाला है । तन, धन, यौवन सब कुछ

माटी में मिलने वाला है। लेकिन माटी-माटी में समाए, उससे पहले मानवता के लिए कुछ काम कर जाओ। इस माटी का यही सदुपयोग होगा। अपने घर में एक ऐसा पौधा लगाओ, जिसकी छाया पड़ौसी के घर तक पहुँचे। इससे इतना संतोष मिलेगा, जिसकी आप कल्पना नहीं कर सकते। तुम आगे बढ़ना चाहते हो तो किसी को गिराओ मत। यह इंसानियत के खिलाफ है। आगे बढ़ना तुम्हारा धर्म है, पर किसी को पीछे धकेलना तो धर्म नहीं है। धर्म का मूल उद्देश्य यही है कि आप किसी को आगे बढ़ायें किन्तु बढ़ते की टांग न खींचें।

तुम चाहे जिस मंदिर, चर्च या गुरुद्वारे में जाओ, यह तुम्हारी निजी उपासना है। धर्म के लिए यह इतना महत्वपूर्ण नहीं है, जितना किसी दुःखी के आँसू पोंछना, किसी के दर्द को कम करने में मदद करना महत्वपूर्ण है।

आप मंदिर गए, उपाश्रय में गए, धर्मस्थानों में गये लेकिन वहाँ जाकर भी अध्यात्म के रंग में रंगने के बजाय आपने नेतागिरी शुरू कर दी तो वहाँ जाना व्यर्थ हो गया। वहाँ जाकर भी पापों की गठरी हल्की नहीं कर पाए और उसका वजन बढ़ाने का काम ही किया। धर्मस्थानों में जाकर समाज की ठेकेदारी शुरू हो जाती है। पदाधिकारी बनने के लिए झगड़े होने लगते हैं। आपस में मन-मुटाव हो जाता है। अगर हम समाज के मंच पर आकर भी ऐसा करते हैं, तो समाज राजनीति का पर्याय बन जाएगा। समाज में रहकर हमें आत्मौपम्य के भावों का विस्तार करना चाहिये। लेकिन लोग ऐसा कहाँ करते हैं? 'मैं इस पद पर रहूँगा और उसको नीचे गिरा दूँगा, ऐसी भावना मन से निकाल ही नहीं पाते। जिस धर्म-समाज में एक-दूजे को उठाने की बजाय गिराने की प्रवृत्ति चल रही है, उसका भविष्य अंधेरे में है।

कोई व्यक्ति संघपति, समाज का अध्यक्ष और संरक्षक बनकर तीर्थकर गोत्र भी उपार्जित कर सकता है, तो अपने लिए वह नरक के दरवाजे भी खोल सकता है। तुम स्वर्ग जाना चाहते हो या नरक में, यह तुम पर ही निर्भर है। पाप करते हो दुनिया में, और प्रार्थनाएँ करते हो मंदिरों में जाकर। धर्म का उपयोग पापों को धोने के लिए नहीं अपितु पापों से मुक्ति के लिए हो। तुम ऐसे धार्मिक बनो कि तुम्हारे द्वारा कोई पापकर्म ही न हो। पाप करते हो दूकान में और परमात्मा के द्वार पर जाकर धोक लगाते हो कि मुझे माफ कर देना। ऐसे में परमात्मा माफ कर देगा क्या? मंदिर में तो रोज प्रार्थनाएँ होती हैं और बाहर रोज वही पाप! कैसे चलेगा ऐसे जीवन और धर्म का रथ?

कोई व्यक्ति बलात्कार करता है, चोरियाँ करता है, तस्करी करता है और मंदिर में जाकर सौ रुपए का प्रसाद चढ़ा आता है, यह सोचकर कि परमात्मा उन सारे पापों को माफ कर देगा। गलत काम करने वाले को यदि उसके कर्मों का फल न मिले तो उसका हौसला बुलंद होता है और अच्छा काम करने वाला निराश हो जाता है। किसी ने प्रभु से पूछा कि 'एक व्यक्ति दिन रात आपके नाम की माला जपता है, गायत्री मंत्र के जाप करता है। दूसरा व्यक्ति वह है जिसे गीता नहीं आती, जो गायत्री मंत्र भी नहीं जानता, लेकिन आपके बताए हुए मार्ग पर चलता है। दोनों में आपको कौन व्यक्ति प्रिय है?

भगवान ने उसे समझाया कि रात-दिन मेरे नाम की माला जपने वाला मुझे पाएगा या नहीं, यह तो मालूम नहीं है, लेकिन जो मेरे बताए मार्ग पर चल रहा है, वह मेरा है और मैं उसका हूँ।



धर्म का मौलिक स्वभाव समझिये। धर्म कभी बांटता नहीं है। उसका स्वभाव ही, एक दूसरे को जोड़ना है। तुम शिव की उपासना करते हो, इसलिए शैव हो। विष्णु की उपासना करते हो, इसलिए वैष्णव हो। ईसा की उपासना करते हो, इसलिए ईसाई हो। 'जिन' की उपासना करते हो, इसलिए जैन हो। ये सारे धर्म अपनी-अपनी जगह पर हैं। तुम इनमें रहते हुए भी अपने आपको आध्यात्मिक और धार्मिक बनाने का यत्न करो।

वास्तव में धर्म वह है जो व्यक्ति के भीतर शांति स्थापित करता है, व्यक्ति को पाप-मुक्त करता है। ऐसा नहीं है कि खूब चोरियाँ करो या अनीति धन कमाओ और मंदिर या समाज में आकर लाख-दो लाख रुपये खर्च कर कीर्ति उपार्जित कर लो। समाज में कुछ रुपये खर्च करके तुम नेता जरूर बन जाओगे, लेकिन धार्मिक नहीं हो पाओगे। धर्म को तुम्हारी नेतागिरी से कोई सरोकार नहीं है, इसलिए आप अपने-आप को बदलें, आत्म-चिंतन करें। जो लोग प्रतिदिन मंदिरों में जाते हैं, प्रार्थनाएँ करते हैं, धूप-दीप करते हैं और समाज में नेता बने हुए हैं, वे जरा आत्मचिंतन करें कि वे भीतर से वास्तव में कितने धार्मिक हैं? कहीं ऐसा तो नहीं है कि ऊपर-ऊपर से तो वे धर्म के प्रति समर्पित दिखाई दे रहे हैं, लेकिन भीतर वही जोड़-तोड़ चल रही है कि इस पद पर मैं बैठूँगा, वह पद मेरे भाई का होना चाहिए। धर्म तथा समाज में पद और प्रतिष्ठा को पाने के लिये की जाने वाली तोड़-फोड़ निन्दनीय है। परमात्मा तुम्हें ऐसे कृत्यों के लिए कभी माफ नहीं कर पाएगा।

क्या आप उस आदमी से कभी खुश हो पाएँगे जो आपके सामने तो जी-हुजूरी करे और पीठ पीछे बुराइयों की पिटारी खोलकर बैठ जाए। नहीं ना! ठीक परमात्मा के मामले में ऐसा ही फार्मूला लागू होता है। मंदिर में जाकर परमात्मा की खूब जी-हुजूरी करते हो किन्तु बाहर आकर उसे नकारने लगते हो, उसकी इंसानियत की शिक्षा को नकारते हो। जो इंसान, किसी की पीठ में छुरा घोंप रहा है, वह परमात्मा की पीठ में ही छुरा घोंप रहा है क्योंकि 'वह' सर्वव्यापी है। इसलिए बदलो अपने आप को। धर्म के वास्तविक अर्थ को पहचान कर एक-दूसरे के प्रति हृदय में प्रेम का दीप जलाओ।

आप धर्म से बहुत कुछ चाहते हैं। कोई बेटा माँगता है, तो कोई पैसा माँगता है, लेकिन आपने कभी विचार किया कि धर्म भी आपसे कुछ चाहता है। यदि आपने उसकी माँग पूरी नहीं की तो, भला धर्म आपका भला कैसे करेगा?

महाभारत में एक उक्ति आती है, 'धर्मो रक्षति रक्षितः'। जो धर्म की रक्षा करता है, धर्म उसकी रक्षा करता है। जो व्यक्ति धर्म की रक्षा नहीं करता, धर्म उसकी रक्षा कैसे करेगा? महावीर कहते हैं, 'धर्म तो तुम्हारे जीवन का सहारा है।' कोई नदी में तैर रहा हो और तैरते-तैरते उसकी शक्ति जवाब देने लगे और ऐसे समय में कोई हवा से भरी ट्यूब या खाली डिब्बा उसके हाथ आ जाए तो उसका बचाव संभव है। धर्म भी ऐसा सहारा जरूर बन सकता है, लेकिन वह आपकी अंगुली पकड़कर आपको नदी पार नहीं करवा सकता। धर्म तो हवा से भरा वह ट्यूब है, जिसे पकड़ लिया तो तैर जाओगे, अन्यथा डूबना तो तय है।

व्यक्ति पल-पल डूब ही तो रहा है। आधा तो डूब चुका है, डुबकियाँ लगा रहा है। भरोसा नहीं कि वह कब पूरा डूब जाएगा। सब डूबने वाले हैं, बचेंगे वे ही जिन्होंने ट्यूब पकड़ लिया है। ऐसे लोग ही पार लग सकेंगे।

संसार में आज अनेक धर्म हैं और उनके भी कितने-कितने पंथ हो गए हैं। जितनी आबादी, उतने धर्म। महावीर से शिष्यों ने पूछा—‘कौन-सा धर्म श्रेष्ठ है?’ प्रभु ने यह नहीं कहा कि अमुक धर्म अच्छा है। उन्होंने कहा कि ‘अहिंसा, संयम और तप, ये तीनों धर्म के प्राण हैं।’ ये तीनों हमारे हाथ से निकल गए तो धर्म भी हमारे हाथ से निकल जाएगा। हमारे पास कुछ न रहेगा और हम खाली के खाली रह जाएंगे।

धर्म का मतलब यह नहीं है कि समाज में जाकर नेतागिरी कर ली या वहाँ पदाधिकारी बन गए। अगर चित्त की निर्मलता नहीं है, तो तुम्हारा कल्याण नहीं हो पाएगा।

धर्म न हिन्दु, बौद्ध है, धर्म न मुस्लिम जैन।

धर्म चित्त की शुद्धता, धर्म शांति सुख चैन।

अन्तर की निर्मलता, चित्त की पवित्रता का नाम धर्म है। धर्म हमें उस अन्तर-शांति का अहसास कराता है जो संसार में अनुपलब्ध है। उसका लक्ष्य मानवता का हित करना होता है। अहिंसा, संयम और तप — ये जो धर्म के प्राण हैं, उनका मूल उद्देश्य यही है कि हमसे मानवता का हित हो। अहिंसा का अर्थ विस्तार — करुणा और प्रेम है। संयम का अर्थ विस्तार— अशुभ से शुभ और शुद्धत्व की यात्रा है और तप इच्छाओं और कषायों का परिशमन करता है।

हिंसक मात्र वह नहीं है कि व्यक्ति कसाईखाने में बैठकर बकरे की हत्या करता है और अहिंसक वह नहीं है जो मंदिर में बैठकर पूजा करता है। हिंसा और अहिंसा की सिर्फ इतनी ही परिभाषा नहीं है। उनका अर्थ बहुत व्यापक है। लोग ‘अहिंसा परमो धर्मः’ के नारे लगाते हैं। हम जरा आत्मचिंतन करें कि इन लोगों के पैरों में क्या है? चमड़े के जूते। शरीर पर और देखो, तो हाथ की घड़ी का पट्टा, पेन्ट का बेल्ट, सब चमड़े के हैं। ‘अहिंसा परमो धर्मः’ का नारा लगाने वाली महिलाओं के हाथों में झूल रहा पर्स भी चमड़े का है। इनके होठों पर जो लिपस्टिक लगी है, वह कितनी हिंसक है यह क्या आप जानते हैं? हम लोगों को विचारधाराएँ ऐसी हो गई हैं कि वह भाषण तो लम्बे-चौड़े झाड़ू देंगे, लेकिन उन पर अमल नहीं करेंगे। हम नारे तो कुछ और लगाते हैं किन्तु अपने जीवन में कृत्य दूसरी तरह के करते हैं। ऊँचे सिद्धान्तों को मात्र भाषण तक सीमित रखने की बजाय हमें उन्हें जीवन में आत्मसात् करने का प्रयत्न करना चाहिये।

समाज के बीच बैठकर बातें तो ईमान की करेंगे, लेकिन बाहर जाकर इसके विपरीत कृत्य करेंगे। यही स्थिति धर्म की भी कर दी है हम लोगों ने। उसकी मूल भावनाएँ तो बाहर निकाल दी हैं, किन्तु आडम्बरों से धर्म को घेर रखा है। जरा अपने को, धर्म को बाह्य आडम्बर से मुक्त करें। कहीं ऐसा न हो कि धर्म केवल बाह्य आडम्बर तक सीमित रह जाए, धर्म की मूल आत्मा आपके हाथ से खिसक जाए। जरा विचार कीजिये, वह आदमी भला कैसा धार्मिक होगा, जो मंदिर में जाकर तो पूजा-पाठ करता है और दूकान में बैठकर तस्कारी, धोखाधड़ी से भरा धंधा करता है। एक आदमी समाज में जाकर तो एक हजार रुपये चढ़ा देता है लेकिन यदि उनके नौकर की बीबी बीमार हो जाए तो उसे सौ रुपये का सहयोग तक नहीं देता।

दरअसल हमने अपने धर्म को पैसों से ही जोड़ रखा है। बड़े-बड़े धार्मिक लोग ऐसे हैं जो तिलक-छापे

लगाते हैं, मंदिर जाते हैं। खुद को हिन्दू धर्म और जैन धर्म का अनुयायी घोषित करते हैं, लेकिन उनके क्रिया-कलापों का जायजा लें तो हैरानी होगी। ऐसे बहुत से लोग हैं जो भीतर कुछ हैं और बाहर कुछ। ऊपर से वे समाजसेवी बने फिरते हैं और घर में अपनी बहू को दहेज के लिए तंग करते हैं। दहेज के नाम पर अपनी पुत्रवधू को प्रताड़ित करना मानवता के लिए कलंक है। ऐसे लोग यह नहीं सोचते हैं कि उनकी पुत्री भी किसी की पुत्रवधू बनने वाली है। जो सास अपनी बहू को प्रताड़ित करती है, वह जरा सोचे कि उसकी बेटी भी तो किसी की बहू बनेगी और उसके साथ भी ऐसा ही अत्याचार हुआ, तो उसे कितना दर्द होगा? अगर धर्म की गहराई में जाओ तो आपको सोचने के कई बिन्दु नजर आएँगे।

भारत वह पुण्यभूमि है जहाँ धर्म ने अस्तित्व पाया। हमें इस बात पर गर्व करना चाहिए कि हमने इस भूमि पर जन्म लिया। इसी धरती पर राम, कृष्ण, महावीर और बुद्ध पैदा हुए। कितने-कितने ऋषि, आचार्य यहाँ पैदा हुए, जिन्होंने धर्म के आचार-विचार की पुण्य-सलिला बहाई। धर्म का अर्थ केवल सदाचार ही नहीं, सद्विचार भी है। जहाँ सदाचार व सद्विचार की गंगा-जमुना एक साथ बहती है, वहीं पर धर्म जीवित रहता है।

इस धरती पर कभी आइंस्टीन, सिकंदर और नेपोलियन पैदा नहीं हुए, लेकिन यह भूमि इस बात पर गर्व कर सकती है कि इसने राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध आदि को पैदा किया। इस धरती ने उन लोगों को पैदा किया जो विश्व-विजेता भले ही न रहे हों, लेकिन आत्म-विजेता अवश्य रहे।

तलवार के बल पर किसी को जीतना अलग बात है और दिल के बल पर जीतना अलग बात है। तलवार से किसी का सिर काटा जा सकता है, लेकिन दिल से वास्तव में किसी को झुकाया जा सकता है। भारत वह धरती है, जिस पर जब-जब भी अधर्म बढ़ा, महापुरुष अवतरित हुए और उन्होंने अधर्म का नाश किया। आज दुःख होता है कि जिस देश ने दूसरे देशों को धर्म और अध्यात्म का संदेश दिया, वहाँ ही हिंसा, बेईमानी और भ्रष्टाचार ने अपने पैर जमा लिये हैं।

आज हमें चिंतन करना होगा कि हम अपनी भावी पीढ़ी के लिए कैसा भारत छोड़ कर जा रहे हैं? हमारे पूर्वजों ने हमारे लिए धर्म का लहराता वृक्ष छोड़ा था, पल्लवित-पुष्पित सुमन छोड़े थे। आगे आने वाली पीढ़ी हमें गालियां देंगी, क्योंकि हम उसके लिए कोई अच्छा संसार छोड़कर नहीं जा रहे हैं। धर्म के नाम पर हम फूल नहीं, काँटे छोड़कर जा रहे हैं। कहने को तो हम सब एक हैं। साथ-साथ भोजन करते हैं, व्यवसाय करते हैं, लेकिन धर्म का नाम आते ही हम बँट जाते हैं। आपस में कट-मर जाते हैं। क्या धर्म हमें यही सिखाता है? क्या धर्म-मजहब का यही काम है कि वह हमें काटे और आपस में बाँटे? अगर ऐसा होता है, तो वह धर्म नहीं अपितु कट्टरता है।

हमें विचार करना होगा कि क्या हम धर्म-मजहब के नाम पर इतने कट और बँट जाएँगे कि आपस में गलबहियां न डाल सकें, एक दूसरे के सुख-दुःख में काम न आ सकें। सारे संसार के प्रति मैत्री रखकर ही आप वास्तव में अपने साथ मैत्री कर सकते हैं।

हम साथ-साथ खाते-पीते और उठते-बैठते हैं, लेकिन धर्म का नाम लेते ही अलग-अलग हो जाते हैं।

हम एक गीत रोज गुनगुनाते हैं- 'मजहब नहीं सिखाता, आपस में वैर रखना' लेकिन काम उससे उलटा करते हैं। मजहब तो आजकल लोगों के मन में वैर की भावनाएं पैदा करने लगा है। हम लोग मजहब के नाम पर कटने-छाँटने लगे हैं, क्योंकि हम वास्तव में धार्मिक नहीं बन पाए हैं। हम सब साम्प्रदायिक बनते जा रहे हैं।

धर्म को जब-जब सम्प्रदाय का चोला पहनाया जाएगा, तब-तब अध्यात्म नीचे गिरता जाएगा और सम्प्रदाय ऊपर उठता जाएगा। अलग-अलग पर्युषण करना जैन धर्म की बातें नहीं हैं। ये तो हमारे पंथ-परम्परा की बातें हैं। यह तो मनुष्य पर निर्भर है कि वह धार्मिक, आध्यात्मिक या साम्प्रदायिक में से क्या बनना चाहता है? जिस देश ने कभी धर्म उत्पन्न किया, जो देश धर्म का प्राण था, आज वह अपने सामने बहुत बड़ा प्रश्न लेकर खड़ा है कि क्या हम धार्मिक हैं ?

हम लोग कब तक मंदिर-मस्जिद के झगड़ों में खुद को बाँटते रहेंगे? जो लोग मंदिर-मस्जिद के पीछे मानवता का खून करते जा रहे हैं, उन्हें इस बात से कोई मतलब नहीं है कि मंदिर बने या मस्जिद। उन्हें तो अलगाव कराना है और इसमें वे सफल होते हैं। लेकिन धर्म को इन बातों से कोई सरोकार नहीं है। जब इस देश में मंदिर-मस्जिद नहीं थे, तब भी धर्म तो था ही और अब ये टूट जाएँगे तो भी धर्म रहेगा। धर्म कोई पत्थर-गारे से बनी इमारतों का मोहताज नहीं है।

धर्म का सम्बन्ध केवल मंदिर-मस्जिद के साथ नहीं है। धर्म का सम्बन्ध व्यक्ति के साथ है। यदि हमने धर्म का सम्बन्ध केवल जड़-पदार्थों से जोड़ा और उसे हम भीतर से न जोड़ पाए, तो धर्म बार-बार साम्प्रदायिकता का बाना पहनकर आपके सामने खड़ा होगा और अयोध्या जैसे कांड होते रहेंगे।

हमें साम्प्रदायिक नहीं, धार्मिक होना है, आध्यात्मिक होना है। हमारे आपसी झगड़े भी कम नहीं हैं। एक कहता है, 'सबसे पहले श्वेताम्बर का नाम रहना चाहिए।' दूसरा कहता है, 'दिगम्बर का नाम आगे रहे।' कोई 'स्थानक' और कोई 'तेरापंथी' को आगे लाना चाहता है। विडम्बना यह है कि कोई यह नहीं कहता कि सबसे पहले जैनत्व का नाम रहना चाहिए। हम स्वयं को साम्प्रदायिकता से ऊपर उठाएँ। धर्म कभी साम्प्रदायिकता में नहीं जीता। धर्म हमेशा आध्यात्मिकता में जीता है।

धर्म बाहर ही नहीं भीतर भी होना चाहिये। धर्म एक दूसरे से जोड़ना सिखाता है, बाँटना नहीं। जहाँ अलगावा अथवा बँटवारे की बात हो, वहाँ धर्म नहीं अपितु साम्प्रदायिकता है। धर्म का काम वैमनस्य फैलाना नहीं है। सबके प्रति मैत्री का भाव पैदा करना ही धर्म का उद्देश्य है। अब यह तो व्यक्ति पर निर्भर है कि वह क्या बनना चाहता है धार्मिक या साम्प्रदायिक? धर्म आचार-विचार दोनों का समन्वित रूप है। हम लोग जब माला जपते हैं तो कहते हैं, 'नमो लोए सव्वसाहूणं' जितने भी साधु हैं, उन सबको मेरा प्रणाम। लेकिन हम वास्तव में क्या इस वाक्य को जीवन में उतार पाते हैं ?

धर्म क्या है? धर्म मानवता की मुंडेर पर मोहब्बत का चिराग है। धर्म अहिंसा का अनुष्ठान है। काश, हम अहिंसा के अनुष्ठान में जी पाएँ। उसे जीवन में आत्मसात् कर पाएँ। भारत के सैकड़ों धर्म हैं। कहने को तो मोटे तौर पर कोई एक दर्जन धर्म हैं लेकिन उनके भीतर इतने विभाजन हैं कि उनकी गिनती करनी मुश्किल हो जाए। हकीकत तो यह है कि धर्म तो कम किन्तु समुदाय अधिक पैदा हुए। कहने को हम भले ही शास्त्रों का उद्धरण

देकर कह सकते हैं कि हमारा देश धार्मिक है, पर हकीकत में हमारा देश आध्यात्मिक नहीं बल्कि साम्प्रदायिक बनता जा रहा है। हम सम्प्रदायों में उलझते जा रहे हैं। साम्प्रदायिक कट्टरता के कारण लोग आपस में कट-मर रहे हैं।

देश में धर्म का जाल-सा फैला हुआ है। एक पड़ोसी जैन, तो दूसरा बौद्ध, तीसरा सिक्ख, तो चौथा मुसलमान। बहुधा मन में भाव पैदा होता है कि आखिर वास्तव में धर्म है क्या? धर्म वह है जो आदमी को जीवन जीना सिखाता है। आपस में प्रेम, श्रद्धा, सद्भाव से रहना सिखाता है। धर्म चित्त की शुद्धता है। धर्म अंतर की निर्मलता है यदि धर्म हमें भीतर से निर्मल नहीं करता, शुद्ध नहीं करता, तो वह धर्म अपूर्ण है।

हमने धर्म का अर्थ केवल पूजा-पाठ से लगाकर उसे एक आले में स्थापित कर दिया है। धर्म इससे बढ़कर है। धर्म हमें नैतिकता का पाठ पढ़ाता है। वैर-भाव छोड़ना सिखाता है। प्रेम और प्यार की सीख देता है।

मनुष्य के मन से वैर-भाव आसानी से नहीं जा पाता। वैर और वैमनस्य की प्रवृत्तियाँ बनी रहती हैं व रह-रह कर सिर उठाती हैं। सामायिक कर ली, प्रतिक्रमण कर लिया मगर अपनी प्रवृत्तियों का शमन नहीं कर पाए तो सब बेकार गया। न जाने कितनी बार तुम क्षमापना पर्व मना चुके हो, मगर भीतर क्षमा उत्पन्न नहीं हुई। क्षमा मांगने के बावजूद वैर जिंदा रहा तो फिर क्या लाभ हुआ क्षमापना का? जब तक हमने अपने भीतर की दरारों को ठीक नहीं किया तो ऊपर-ऊपर से की गई क्षमापना ढोंग मात्र होगी।

दुर्भाग्य यह है कि हम समाज में सिर्फ अपना वैभव दिखाने के लिए आते हैं, अपना अहंकार साथ लेकर आते हैं। जब तक हमारा अहंकार समाप्त नहीं होगा, कोई धर्म हमें धार्मिक या आध्यात्मिक नहीं बना सकेगा, हमारी समस्याओं का समाधान नहीं कर सकेगा। हम चाहे कितने भी मासक्षमण कर लें किन्तु यदि भीतर का वैर-भाव नहीं जाएगा तो हम परिशुद्ध नहीं हो पायेंगे। हमारी तपस्या भी केवल दिखावटी बनकर रह जाएगी और जीवन में कोई बदलाव नहीं आ पाएगा।

हमें धर्म को बारीकी से जाँच कर उसे न केवल समझना होगा, बल्कि उसे जीवन में भी उतारना होगा। सामायिक करो तो सामायिक के बाद जब उठो, पांच मिनट विचार करना कि सामायिक के दौरान हमारे मन में किस-किस के प्रति कषाय के भाव आए, क्रोध या घृणा के भाव आए। अगर ये प्रवृत्तियाँ जारी रहीं तो इसका अर्थ यह हुआ कि सामायिक सार्थक न हुई। घर में सामायिक करने बैठे और रसोई में दूध गर्म हो रहा था। दूफ उफन कर भगोने से बाहर निकला तो आप सामायिक छोड़कर भागे। इसलिए पहले जरूरी है कि मन की प्रवृत्तियों को शांत करें, फिर सामायिक करने बैठें।

हम मौन तो रख लेते हैं, लेकिन भीतर शांति नहीं रख पाते। वहाँ वार्तालाप चलता रहता है। जीवन में जब तक एकांत, मौन और ध्यान—ये तीनों साथ नहीं होंगे, तब तक हम पूरी तरह आध्यात्मिक नहीं बन पाएँगे। इसलिए सामायिक को गंभीरता से लें। प्रयास करें, स्वयं को एकांत में लाने का, मौन रखने का और ध्यान में जीने का। साधना के ये ही मूल मंत्र हैं। यहीं से साधना शुरू होती है। जहाँ ये मिल जाएंगे, त्रिवेणी हो जाएगी, तीर्थराज प्रयाग हो जाएगा।

एकता और नैतिकता धर्म का मूल संदेश है। यदि हमने एकता को खो दिया, नैतिकता को खो दिया तो आने वाले समय में हमें अपने जीवन में जैनत्व और हिन्दुत्व की मोहर को भी खोना पड़ेगा। हमें यह मोहर सँभाल कर रखनी है। “हम नहीं दिग्म्बर-श्वेताम्बर, तेरहपंथी स्थानकवासी, हम एक पंथ के अनुयायी, हम एक देव के विश्वासी।” हम कामना करते हैं कि हमारा आने वाला कल ऐसा हो जब हमारी पहचान दिग्म्बर, श्वेताम्बर से नहीं, तेरहपंथी स्थानकवासी से नहीं हो, अपितु हमारी पहचान ‘जैनत्व’ के कारण हो।

किसी से उसका धर्म पूछो तो हरेक का जवाब अलग-अलग होगा। यही नहीं, यदि आप किसी साधु से पूछें तो वह भी अपनी घेराबंदी को नहीं तोड़ेगा, हमारा विचार भी इस घेरे में ही सिमट कर रह जाएगा। महावीर ने कहा कि ‘अहिंसा, संयम और तप’ में तीनों धर्म के महत्वपूर्ण सूत्र हैं। यह ठीक वैसे ही है जैसे पवित्रता के तीन प्रतीक गंगा, यमुना और सरस्वती हैं।

प्रभु कहते हैं कि जो व्यक्ति अहिंसा, संयम व तप का आचरण करते हैं, उसे देव भी प्रणाम करते हैं। लेकिन हमें प्रणाम तो दूर, कभी देव के दर्शन दूर से भी नहीं हुए। आखिर क्या बात है? क्या हम धार्मिक नहीं हैं? इस बारे में गहराई से सोचना पड़ेगा। अभी हमने धर्म का पहला पाठ पढ़ना भी शुरू नहीं किया है। हम तो इतना जानते हैं कि कैसे किसी की जेब काटें, कैसे मिलावट कर अधिकाधिक लाभ उठा लें। टैक्स बचाना भी जानते हैं और झूठ बोलना भी। दरअसल, हमने जीवन को झूठ का पिटारा समझ रखा है और उसी के अनुरूप अपने को ढाल लिया है। धर्म के बारे में हमारी जानकारी अधूरी है। एक बात का ध्यान रखें। जब तक हम धर्म को पूरी तरह नहीं समझ पाएँगे, तब तक हमारा सारा ज्ञान ऐसे ही होगा जैसे बिना नमक की सब्जी। आप सब्जी में सारे मसाले डाल दीजिये, लेकिन नमक छोड़ दीजिये पूरी सब्जी अस्वादु हो जाएगी। बिना धर्म के सब कुछ फीका-बेस्वाद है। हमने जीवन में प्रायः सभी कलाएं सीख लीं, मगर वे हमारे जीवन में अवतरित नहीं हो पायीं, क्योंकि हमारे प्रयासों में ही कमी रही। हमने बाहर की बातें तो बहुत सीख लीं, मगर हम भीतर का अज्ञान दूर नहीं कर पाए। बाहर के प्रति हमारा ममत्व है लेकिन हमें भीतर की चिंता नहीं है।

मनुष्य हर काम देह के कल्याण के लिए करता है। आत्मा के कल्याण की तो उसे सुध ही नहीं है। हम जड़ के कल्याण की चिंता में डूबे रहते हैं और चेतना को बिसरा देते हैं। जब तक आत्मा की सुध नहीं ली जाएगी, तब तक दुनिया की वास्तविक पहचान भी नहीं हो पाएगी। जो अपने आप को नहीं समझ पाया, वह दुनिया को क्या समझेगा? इसलिए धर्म को जीवन में उतारने की कोशिश करो और उसे किताबों तक ही सीमित मत रहने दो।

धर्म का सम्बन्ध बाहर से कम भीतर से अधिक है। जब तक यह बात समझ में नहीं आएगी, सब कुछ सीखा हुआ पानी में चला जाएगा। मुझे याद है, एक युवक ने बाहर वर्ष तक काशी में वेदों का अध्ययन किया। जब उसे लगा कि उसने काफी कुछ ज्ञान प्राप्त कर लिया है, तो वह अपने गाँव रवाना हुआ। राह में एक नदी पड़ी। उसने वहाँ खड़ी नाव का सहारा लिया। जब नाव रवाना हुई तो पंडित ने नाविक से पूछा-‘ब्राह्मण! क्या तुमने व्याकरणशास्त्र पढ़ा है?’ अस्सी वर्षीय नाविक ने इनकार में सिर हिला दिया। पंडित ने कहा, ‘तब तो

तुम्हारी एक चौथाई उम्र बेकार ही गई।' थोड़ी देर बाद उसने फिर बाबा से पूछा कि क्या तुमने न्यायशास्त्र पढ़ा है? इस बार भी उत्तर 'न' में मिला तो उसने हँसकर कहा, तब तो तुम्हारी आधी जिन्दगी बेकार चली गई।' नाविक चुपचाप नाव खेता रहा। उधर पंडित का अहंकार पुष्ट होता गया।

कुछ देर बाद नए-नए पंडित बने युवक ने फिर बाबा को छोड़ा। उसने पूछा कि 'बाबा, क्या तुमने तर्कशास्त्र और ज्योतिषशास्त्र पढ़ा है?' बाबा का उत्तर फिर भी 'न' में ही था। तब युवक बोला कि 'बाबा, आपकी पचहत्तर फीसदी जिन्दगी बेकार चली गई। एकाएक नदी का बहाव तेज हो गया। नाविक ने चाल चली। उसने नाव को एक तरफ झुका दिया और पंडित से पूछा 'क्या तुम तैरना जानते हो?' युवक ने जब 'नहीं' में उत्तर दिया तो बाबा ने कहा कि मेरी तीन चौथाई जिंदगी पानी में चली गई। मुझे विभिन्न शास्त्रों का ज्ञान नहीं है, लेकिन तुम्हारी तो पूरी जिंदगी ही पानी में जाने वाली है। तुमने सब कुछ जाना, लेकिन तैरना नहीं सीखा।

जो जीवन में तैरना जानता है, वह भव-सागर पार कर जाएगा और जो झूठा ज्ञान बघारने में लगा रहेगा, उसका ज्ञान उसे जमीन पर ले आएगा। सभी लोग इसी सांसारिक भूल-भुलैया में ही घूमते रहते हैं, अतः उन्हें मोक्ष का रास्ता नहीं मिलता। इसलिए तैरना सीखो, भुल-भुलैया से निकलना सीखो। धार्मिक बनना चाहते हो, आध्यात्मिक बनना चाहते हो तो पहले खुद को साम्प्रदायिकता के बंधनों से मुक्त करो अन्यथा जीवन भर अनुष्ठान करते रहोगे और यहीं रह जाओगे। जरा विचार कीजिये कि यह चोला (शरीर) क्यों मिला है आपको? इसका आपने अभी तक क्या उपयोग किया? इस पर विचार के बाद अपने भीतर रूपान्तरण की कड़ियाँ खिलने दीजिये। धर्म को कहीं एक जगह सीमित मत रखिये, उसे विस्तार करने दीजिये। आपके जीवन में इसी से संन्यास व समाधि घटित होगी। साम्प्रदायिक नहीं, धार्मिक और आध्यात्मिक बनिये। आत्मा को पहचानिये और उससे भी आगे बढ़ें तो 'परमात्मा' से साक्षात्कार की संभावनाएँ आपकी राह देख रही होंगी।

आज महावीर और बुद्ध, राम और कृष्ण भी हमसे पूछ रहे हैं कि तुम लोग मेरे अनुयायी होने का दम तो भरते हो, लेकिन मेरे वचनों को तुमने अपने जीवन में किस सीमा तक अंगीकार किया? मेरे संदेशों को जीवन में कितना उतारा? और उनके जवाब में हमारे पास सिवाय चुप्पी के और क्या है? कोई भी व्यक्ति साफ-साफ यह नहीं कह सकता कि मैंने परमात्मा की आज्ञाओं का पालन किया है। मैं परमात्मा के बताए मार्ग पर चल रहा हूँ। भले ही आप वेश के साधु न बन पाएँ, पर कम से कम जीवन के साधु बनने की कोशिश तो कर ही सकते हैं। भगवा कपड़ों में तो साधु बनना आसान है, लेकिन पेंट-शर्ट में साधु बनना हरेक के बस की बात नहीं है। हिमालय की गुफा में बैठकर तो हर कोई ब्रह्मचारी बन सकता है, लेकिन हमारी चेतना सदैव उस स्थूलिभद्र के प्रति नतमस्तक रहेगी जो कोशा के यहाँ चातुर्मास व्यतीत करके भी निर्लिप्त रहे।

मैं नहीं कहता कि आप गृहस्थी छोड़ दें और झोली-डंडा लेकर निकल पड़ें। यदि आप संसार में रहते हुए भी अपने को संसार से अलग कर लेते हैं, तो यह भी संसार में संन्यास की उपलब्धि होगी। ठीक कमल की तरह, जिसकी डंडी तो कीचड़ में रहती है, लेकिन उसके फूल बाहर खिलते हैं। संसार में रहना बुरा नहीं है, बस अपने को निर्लिप्त बनाये रखने की जरूरत है।

संसार के प्रति आपके मन में जो तृष्णाएँ, कामनाएँ और वासनाएँ पल रही हैं, उनसे स्वयं को मुक्त करो। यहाँ तो हर कोई डूब रहा है, 'नानक दुखिया सब संसार'। अपने आपको डूबने से बचाना है। डूब तो हर कोई सकता है। मज्जा तो तब है जब तैरकर पार लग जाओ। जिधर धारा बह रही है, उधर ही बहते चले जाओगे तो तुमने कौनसा बड़ा काम कर लिया? तुम धारा के विपरीत बहकर दिखाओ। गंगोत्री से गंगासागर तक की यात्रा तो मुर्दा भी कर सकता है। खूबी तो तब है जब तुम गंगासागर से गंगोत्री तक की यात्रा करो। आप अगर तैरना चाहते हैं तो वह आपको तैराने के लिए तैयार है। आप तो गंगासागर से गंगोत्री की यात्रा प्रारंभ करें, आगे की बात उस परमात्मा पर छोड़ दें जो सब का रक्षक और जगदाधार है।



# एकत्व का शाश्वत बोध



मनुष्य हर पल गतिमान रहता है। जहाँ रुकावट या ठहराव आ जाता है, वहाँ जीवन समाप्त हो जाता है। एक जीवन की समाप्ति दूसरे जीवन की शुरुआत होती है। यही कारण है कि हर व्यक्ति यात्रा कर रहा है। आप, मैं, हम सभी यात्रा पर हैं। संसार में जितने भी प्राणी हैं, सब यात्रा पर हैं।

इस यात्रा में किसी को आज तो किसी को कल मंजिल मिलने वाली है। यहाँ हर कोई मंजिल की तलाश में है। कोई आज जा रहा है, कोई कल जाएगा। सब पंक्ति में लगे हैं। आज जिस कोठी में बैठे हो, कल वहाँ से आपका बोरिया-बिस्तर बँधने वाला है। मनुष्य को जन्म के साथ ही यहाँ से वापस जाने का टिकट भी मिला हुआ है। रोते हुए आने वाले मनुष्य को हँसते हुए जाना है या रोते हुए, यह उसी पर निर्भर करता है। हँसते हुए जाओगे तो जीवन सफल होगा और रोते हुए जाओगे तो जीवन अभिशाप बना रहेगा।

जीवन के ये वरदान और अभिशाप हम सभी को मिले हुए हैं। सिकंदर ने दुनिया को जीता लेकिन जाते समय उसके दोनों हाथ खाली थे। इसकी फलश्रुति तो हमारे कर्मों पर निर्भर करती है। सिकंदर ने अपने अंतिम समय में वैद्यों से कहा कि 'मुझे कुछ क्षण जीने की मोहलत दे दो, मैं तुम्हें दौलत से तोल दूंगा।' वैद्य हँसा- 'कितना नादान है सिकंदर! अरे! करोड़ों रुपए देकर भी एक क्षण नहीं मिल सकता। चाहे कोई भी क्यों न हो ऐसा कौन है जो मृत्यु के चंगुल से बचा है?'

प्रतिदिन सूर्य उदय होता है और शाम को अस्त हो जाता है। इस शाश्वत क्रम को कोई नहीं बदल सकता। आज तक कभी ऐसा नहीं हुआ कि सूर्य उगा हो और शाम को अस्त न हुआ हो। आखिर खिलने वाला हर फूल

कुम्हलाता तो है ही ।

‘जन्मे सो निश्चय मरे, कौन अमर हो आय’- जिसने जन्म लिया, उसकी मृत्यु अवश्यंभावी है । महावीर के निर्वाण के समय इन्द्र ने स्वयं उपस्थित होकर कहा था कि ‘प्रभो ! हो सके तो आप अपने जीवन को कुछ क्षणों के लिए बढ़ा लें, क्योंकि आपका देहांत ऐसे ग्रह में हो रहा है जिसका प्रभाव, आने वाली शिष्य-परंपरा पर पड़े बिना नहीं रह सकेगा ।’ लेकिन महावीर ने कहा - ‘इन्द्र—! न एवं भूवम्, न एवं भव्वम्, न एवं भविस्सहि । न ऐसा हुआ, न हो सकता है और न होगा ।’ कोई भी व्यक्ति अपनी जिन्दगी को न घटा सकता है और न बढ़ा सकता है । नियत है यहाँ सब कुछ—जीवन भी और मृत्यु भी । किसे पता है आने वाला कल जीवन बनकर आयेगा या मृत्यु बनकर । श्वास की डोर कब टूटेगी, क्या तुम जानते हो ?’

श्वासों का क्या ठिकाना रुक जाये चलते-चलते,

प्राणों की रोशनी भी, बुझ जाये जलते-जलते ।

मनुष्य को इस बात की भी खबर नहीं है कि जो साँस वह भीतर ले रहा है, उसे बाहर भी निकाल पाएगा या नहीं । रात को सोते समय भी निश्चित नहीं होता कि सुबह सलामत उठ पाएँगे या नहीं । सुबह घर से निकलते हैं, पर शाम को हम लौटेंगे या नहीं, इसकी क्या गारंटी है ? आकाश में उड़ रही जीवन की पतंग, जाने कब कट जाए और उसकी डोर हवा में ही रह जाए ।

जीवन क्षणभंगुर है, पानी का बुलबुला है ।

जिन्दगी नाम है रवानी का, क्या थमेगा बहाव पानी का,

जिन्दगी नाम है बेतआल्लुक का, एक हिस्सा कहानी का ।

वास्तव में जिन्दगी एक कहानी का हिस्सा है । बहते पानी की रवानी का नाम है जिन्दगी । इसलिए यह सोचकर चिंतित मत होना कि मरना है । एक दिन तो सभी को मरना है । अमर कोई नहीं है । यह मत सोचना कि दुनिया मर रही है किन्तु मैं थोड़े ही मरूँगा । साँस रहने तक ही जीवन रहता है, बाद में अपार-वैभव भी आपको जीवन नहीं दे सकते ।

संसार में ऐसे अनेक लोग हैं जो चमत्कारों में विश्वास रखते हैं । कोई कबूतर को चिड़िया बना देता है, कोई नजरों का इन्द्रजाल खड़ा कर देता है । लेकिन यकीन मानो, ये सब मिथ्या हैं । कोई भी व्यक्ति मृत्यु को जीवन नहीं बना सकता । इसलिए कहता हूँ, जब मौत आए तो उससे आँखें मत चुराना, उसका स्वागत करना । कुछ लोग बड़ी शेखी बघारते हैं कि हम मौत से नहीं डरते, लेकिन जब मौत आती है तो उससे नजरें चुराने लगते हैं । मेरे प्रभु ! मौत हमारी शत्रु नहीं, मित्र है । उससे कतराना मत, उसका तो स्वागत ही करना ।

हमें कोई व्यक्ति नए कपड़े पहनाता है तो क्या वह हमारा दुश्मन हो जाएगा ? इसी तरह कोई हमें जीर्ण-शीर्ण मकान से निकालकर महल में ले जाता है तो क्या वह हमारा शत्रु हो सकता है ? जीवन की समाप्ति भी ऐसी ही है । मृत्यु हमारे शरीर रूपी चोले को उतार देती है । आत्मा फिर किसी नए शरीर की ओर निकल पड़ती है ।

मृत्यु जीवन की वास्तविक समाप्ति नहीं है, अपितु केवल चोले का परिवर्तन है। न जाने हमने अब तक कितने चोले बदले हैं और कितने चोले बदलेंगे।

मृत्यु बार-बार आती है और जीवन का रूपांतरण कर जाती है। कभी कोई चोला तो कभी कोई। कभी गाय का, कभी गधे का, तो कभी चींटी का। इंसान का चोला तो पता नहीं कितने जन्मों के बाद एक बार मिलता है।

मृत्यु के रूप भी अनेक हैं। यह किसी को निर्वाण के रूप में मिल सकती है तो किसी को केवल मृत्यु के रूप में। इसलिए मृत्यु की चिंता मत करो। जीवन के अस्थायी समाप्तीकरण की चिंता मत करो। अपने आपको सुधारने की चिंता करो। आपने अपने जीवन का रहन-सहन बदल लिया, जीवन में स्थायी रूपांतरण ले आए तो आपको मृत्यु का भय नहीं सता सकेगा। तब मौत आपको नहीं मार पाएगी।

दुनिया में मनुष्य ही ऐसा प्राणी है जो रोते हुए पैदा होता है, झिंकते हुए जीता है और असंतुष्ट ही मर जाता है। आप जरा जीवन का लेखा-जोखा करें तो आप पाएँगे कि सारी जिन्दगी रोते-रोते ही बीत गई। हर इंसान किसी-न-किसी समस्या को लेकर परेशान है। किसी के औलाद नहीं है, इसलिए रो रहा है, तो कोई अपनी औलाद बिगड़ने के कारण रो रहा है। रोते हुए आया हुआ आदमी रोते-रोते जिन्दगी पूरी कर रहा है।

रोते हुए आए मगर हँसते हुए जाओ तो उल्लेखनीय बात होगी। मौत ऐसी हो कि दुनिया भले ही हमारे पीछे रोये, पर हम हँसते हुए अहोभाव के साथ जायें। कबीर कहते हैं 'हम हँसें, जग रोए', यह मत सोचना कि मैं जिन्दगी के अंतिम समय में अपना सुधार कर लूँगा। तुम नहीं सुधार पाओगे क्योंकि जो समय बीत गया, उसे लौटाना तुम्हारे हाथ में नहीं है। जो जवानी चली गई, वह लौट कर नहीं आ सकती। बीत गई सो बात गई।

हमने अब तक जन्म और मृत्यु को महत्त्व दिया है, पर जीवन को हम महत्त्व नहीं दे पाये हैं। हम महापुरुषों की जन्म-तिथि या निर्वाण-तिथि महोत्सवपूर्वक मनाते हैं, पर इन दोनों से भी ज्यादा मूल्यवान जीवन होता है। महापुरुषों की जन्म और मृत्यु इसलिए महान् होती है क्योंकि उनका जीवन महान् होता है। इसलिए जीवन के रहस्य को पहचानने की कोशिश करो। जीवन का जो पल निरर्थक बीत रहा है, वह वास्तव में जीवन की मृत्यु ही है। वही व्यक्ति मृत्यु को निर्वाण में रूपांतरित कर सकता है जिसने जीवन को जीवन की दृष्टि से जीया है।

जीवन की दृष्टि से मनुष्य जीवन का शुभारंभ है। मनुष्य के पहले भी तुम्हारी आत्मा का जीवन था, पर उसकी कोई उल्लेखनीय मूल्यवत्ता नहीं थी। पर जिसे हम जीवन कह सकें उसकी शुरुआत तो मनुष्य से ही होती है। भले ही यह काया का मंदिर मिट्टी का हो, पर मंदिर के भीतर बैठा हुआ देवता माटी का नहीं है। इस चेतना के सहारे हम जीवन में छिपी उज्वल संभावनाओं का उद्घाटन कर सकते हैं। पता है, एक मनुष्य में, उसके जीवन में कितनी ऊर्जा होती है? कितनी सम्भावनाएँ छिपी रहती हैं, पर वे सब हमारे अज्ञान के कारण दबी-की-दबी रह जाती हैं।

हमारे भीतर एक बुद्ध बनने की सम्भावना थी, अरिहंत और वीतराग बनने की संभावना थी, एक दार्शनिक और चिंतक बनने की सम्भावना थी, पर हमने उन सब को दबा कर रख दिया। सच्चाई तो यह है कि हमें यह महसूस भी नहीं हो पाया कि हम कोई मनुष्य हैं। पशुओं की तरह पूरी जिंदगी जी और उपलब्धि के नाम पर हमें

कुछ भी न मिला। मैंने कहा, 'जिंदगी जी ली, जी भी क्या ली, बस पूरी हो गयी, जैसे-तैसे, सोये-सोये।' और परिणाम यह हुआ कि हमारी जिंदगी जो हमें जीवन की परम ऊँचाइयों को स्पर्श करा सकती थी, वह बीच में ही धँसी रह गयी। अमृतधर्मा जीवन विषाक्त बन गया। जहाँ फूल खिल सकते थे वहाँ केवल काँटे ही खिले। हम सुगन्ध-सुवास न बिखेर पाये। हाँ, हमने दुर्गन्ध अवश्य बिखेर दी है।

हम जीवन पर मनन करें, चिंतन करें। आखिर जीवन में हमारी उपलब्धियाँ क्या रही हैं? धन-दौलत, परिवार क्या यही सब जीवन की उपलब्धियाँ हैं? क्या उनका जीवन के मूल अस्तित्व से कोई सम्बन्ध है? क्या इन सबके होते हुए भी तुम अन्त में निपट अकेले नहीं पड़ जाओगे! जिन्हें जीवन की उपलब्धि मान रहे हो, ये कहाँ तक साथ निभा पाएँगे। क्या उस समय ये संगी-साथी कोई तुम्हारे सहायक हो पायेंगे जब पिंजरे खाली हो जायेंगे? ये सब पिंजरे के सम्बन्ध हैं, उसी के मोह-सूत्र हैं। जिनके लिए तुमने अपनी जिंदगी झोंक दी, पाप-पुण्य की भी परवाह नहीं की, क्या वे अब तुम्हें बचा पाएँगे? अगर भगवान स्वयं भी तुम्हारे सामने आकर खड़े हो जायें तो तुम्हें बचा नहीं पायेंगे और खास बात, तुम्हारा अपना खून जिसे तुमने अपने वे भी खून से सिंचित किया, वही तुम्हें आग में झोंकेगा।

होगा मसीहा सामने तेरे, फिर भी न तू बच पायेगा।

तेरा अपना खून ही आखिर, तुझको आग लगाएगा।

आसमान पर उड़ने वाले, मिट्टी में मिल जाएगा।

हम समझें अपने जीवन की मूल्यवत्ता को। प्रकृति की इस सौगात को यों ही न खो दें। कहीं यह वैभव मिट्टी के मौल न बिक जाये। सृष्टि की सबसे अनमोल कृति मनुष्य है और मनुष्य का सबसे बड़ा सृजन स्वयं का निर्माण है। बाहर के भवन खड़े करने से क्या लाभ, अगर भीतर का भवन खण्डहर हो रहा है। बाहर का वैभव तुम्हारे किस काम का अगर अन्तर में गरीबी बढ़ती जा रही है, गंदगी फैलती जा रही है।

यह त्रैकालिक सत्य है कि इस सृष्टि में आत्मा को छोड़कर कुछ भी ऐसा नहीं है जिस पर तुम शाश्वतता की मोहर लगा सको। आप कुछ भी निर्मित करें, सब नष्ट होने वाला है। निर्माण करो अपने अन्तरलोक का जिससे कहीं खण्डहर ही साथ लिये तुम्हें विदा न होना पड़े।

जीवन महज कोई लकड़ी का टुकड़ा नहीं है कि नदी में बहता रहे। वह पेड़ का पत्ता भी नहीं है जो हवा में उड़ता रहे। जीवन में सचेतन लक्ष्य होना चाहिये ताकि जीवन को हम जीवन कह सकें।

जीवन में घटने वाली घटनाओं, न केवल जीवन में अपितु सृष्टि में घटने वाली घटनाओं से जीवन में चिंतन पैदा होना चाहिये। हम दूसरे पर घटित हुए सत्य को, स्वयं पर घटित हुआ देखें। ये घटनाएँ ही तो हमारे जीवन में रूपांतरण का संदेश देगी। क्या तुम्हें पता है कि भगवान बुद्ध को वैराग्य कैसे पैदा हुआ? सत्य की खोज के लिए उन्होंने कदम कैसे बढ़ाये? बुद्ध के बारे में कहते हैं कि बुद्ध के जन्म के पश्चात् ज्योतिषियों ने कहा था कि बुद्ध घर में नहीं रहेंगे, वे संत बनेंगे। पिता ने बुद्ध के बड़े होने पर अनुचरों को आदेश दे रखा था कि बुद्ध को राजमहल की परिधि के बाहर न ले जायें ताकि कोई घटना उन्हें प्रभावित कर सके। यहाँ तक कि जिस बाग में

सांझ को टहलने के लिए बुद्ध जाते थे, वहाँ इस बात का भी ध्यान रखा जाता था कि बगीचे में कोई बूढ़ा वृक्ष न हो अथवा मुरझाया हुआ फूल भी न हो।

एक दिन बुद्ध युवा महोत्सव में जा रहे थे। उन्होंने मार्ग में किसी वृद्ध को देखा। वह झुकी कमर वाला व्यक्ति हाथ में डंडा पकड़े चला जा रहा था। बुद्ध ने किसी वृद्ध को पहली बार देखा था। उन्होंने सारथी से पूछा, 'यह व्यक्ति कौन है? इसकी कमर झुक क्यों गयी है? हाथ में डंडा पकड़े क्यों चल रहा है?' सारथी ने कहा, 'यह वृद्ध है। सीधे चलने की शक्ति अब इसमें नहीं है अतः डंडा पकड़ कर चल रहा है।' बुद्ध ने पूछा, 'क्या हर व्यक्ति के साथ ऐसा होता है? सारथी ने कहा, 'जी! हर कोई व्यक्ति इसी तरह वृद्ध होता है।'

बुद्ध कुछ न बोले। उन्होंने कुछ सोचा और सारथी से रथ आगे बढ़ाने को कहा। आगे किसी व्यक्ति की अर्थी जा रही थी। सैकड़ों लोग साथ चल रहे थे। बुद्ध समझ न पाये यह सब क्या है! उन्होंने कुतूहल से सारथी से पूछा, 'ये लोग कौन हैं जो इस व्यक्ति को बांधकर, कंधे पर उठाकर इस तरह ले जा रहे हैं?' सारथी ने कहा, 'कुमार! ये जो व्यक्ति डोरियों से बँधा है, वह मर गया है। इसे जलाने के लिए ये ले जा रहे हैं।' बुद्ध ने विस्मय से पूछा, 'क्या सब मरते हैं? क्या सबको जलना होता है?' सारथी ने कहा, 'हाँ, कुमार! सबके साथ ऐसा ही होता है।'

बुद्ध ने फिर पूछा, क्या मैं भी मरूँगा? क्या मुझे भी जलाया जायेगा?' सारथी ने कहा, 'कुमार! भला इस मौत की मार से अब तक कौन बचा है?'

कहते हैं, बुद्ध ने उसी समय सारथी को रथ वापस घुमाने के लिए कहा। और वह दिन बुद्ध के लिए संसार का अंतिम दिन हुआ। अगली भोर तो वे समाधि की राह पर थे।

मैंने कई लोगों को मरते देखा है। उन्हें मांगलिक पाठ सुनाए हैं। मैंने प्रायः यही पाया कि अंत समय में भी उनका मन मांगलिक पाठ में नहीं लगता और पारिवारिक उपेक्षा के कारण वह तिल-तिल मरता-रहता है। फिर भी आसक्ति वैसी-की-वैसी जीवित रहती है।

आचार्य शंकर कहते हैं-

अंगं गलितं पलितं मुंडम्, दशनविहीनं जातं तुंडम्,  
वृद्धो याति गृहीत्वा दंडम्, तदपि न मुंचत्याशा पिंडम् ॥

शंकर अपनी कुटिया के बाहर बैठे थे। एक बूढ़ा वहाँ से गुजरा। उसका अंग-अंग गल रहा था, कमर झुक गई थी, मुंह के सारे दाँत गिर चुके थे। उसे आँखों से दिखाई देना बंद हो गया था। उससे चला नहीं जाता था अतः उसने हाथ में डंडा ले रखा था, लेकिन उसकी इच्छाएँ नहीं मरीं।

तृष्णा कभी समाप्त नहीं हुआ करती। मनुष्य बूढ़ा हो जाता है, मगर इच्छाएँ-आशाएँ बूढ़ी नहीं होतीं। तुम मर जाओगे, पर यह सोचो कि क्या तुम्हारी इच्छाएँ मरेगी?

इसलिए सारी उम्र संसार के लिए ही सोचते मत रह जाना। अपने लिए भी कुछ बचाकर रखना। अन्यथा

होगा यह कि उम्र भर परिवार के लिए पाप कमा कर भी अपने लिए कुछ भी नहीं कमा पाओगे। अपने बंधुओं की सुख-सुविधा के लिए पाप करते हो। ज़रा उनसे पूछना कि जब तुम्हें इन पापों की सज़ा मिलेगी तो क्या वे उसे भुगतने को तैयार होंगे? पाप करने से पहले सोच लेना। जो पत्नी आपसे कहती है कि बिना आपके मैं मर जाऊँगी, उसकी बात का विश्वास मत करना क्योंकि कभी किसी के लिए कोई नहीं मरता।

आदमी कहता है कि दुनिया ने मुझे बाँध रखा है, यह बात गलत है। असल में तो आदमी ने अपने आप को दुनिया से बाँध रखा है। वह खुद उससे छूटना नहीं चाहता। बंधन तो खुद उसने बाँध रखे हैं। कोई व्यक्ति खंभे को पकड़कर खड़ा हो जाए और कहने लगे कि खंभे ने मुझे बाँध रखा है तो यह गलत होगा। आदमी खुद उस खंभे को नहीं छोड़ना चाहता। इसी तरह दुनिया ने आपको नहीं बल्कि आपने दुनिया को बाँध रखा है।

संन्यास के मार्ग पर निकलो तो सभी से मुक्त होकर निकलो। ऐसा मत सोचो कि तुम चले गए तो दुनिया समाप्त हो जाएगी। दुनिया का काम तो ऐसे ही चलेगा।

एक युवक प्रतिदिन एक साधु के पास जाया करता था। एक दिन साधु ने पूछ लिया कि 'तुम इतने दिन से मेरे पास आ रहे हो, प्रवचन भी सुन रहे हो, लेकिन क्या इन प्रवचनों को तुमने अपने जीवन में भी उतारने का प्रयास किया है कभी? युवक बोला- 'महाराज! असल में मैं भी आपकी तरह साधु बनना चाहता हूँ, सांसारिक जीवन त्यागना चाहता हूँ, लेकिन एक मुसीबत है। मैं जब भी साधु बनने की बात कहता हूँ, मेरी माँ कुएँ में कूद कर आत्महत्या करने की धमकी देती है। पिता जी फाँसी पर लटकने की बात करते हैं।'

साधु ने बड़े ध्यान से युवक की बात सुनी और उसके कान में कुछ कहा। युवक अपने घर गया और बीच आँगन में मुर्दे की तरह लेट गया। उसे साँस रोकने की विद्या आती थी, जिससे उसने अपनी साँस रोक ली। घर वालों ने यह सब देखा तो डॉक्टरों को बुलवाया। डॉक्टरों ने उसे मृत घोषित कर दिया।

परिवार में रोना-धोना शुरू हो गया। पत्नी ने चूड़ियाँ तोड़ दीं और वह एक कोने में बैठकर सुबकने लगी। माँ-बाप भी रोने लगे। सगे-सम्बन्धी अर्थी का सामान ले आए। उसे बाँध कर जैसे ही ले जाने लगे, वह साधु वहाँ आ पहुँचा। बोला, 'ये क्या कर रहे हो?' लोगों ने बताया कि 'आपका चेला इस दुनियाँ में नहीं रहा।'

साधु ने अर्थी खुलवाई, युवक की हाथ की नाड़ी देखी। थोड़ी देर बाद बोला- 'यह युवक जावित हो सकता है, मगर इसके लिए एक शर्त है।' युवक के परिजनों ने व्यग्र होकर पूछा- 'कैसी शर्त?' साधु बोला- 'इसके स्थान पर कोई अन्य मरने को तैयार हो जाए तो यह युवक जी सकता है।' इतना सुनना था कि लोग बगलें झाँकने लगे। साधु एक-एक से पूछने लगा।

युवक का पिता, माँ, बहन, भाई यहाँ तक कि धर्मपत्नी भी इसके लिए तैयार नहीं हुई। मरे हुए आदमी के पीछे रोया जा सकता है, पर मरा नहीं जा सकता।

साधु ने अर्थी पर सोए युवक के गाल पर चांटा मारकर कहा, 'चल उठ! तेरे लिए कोई मरने को तैयार नहीं है। तू तो कहता था कि मैं साधु बन गया तो पूरा परिवार मर जाएगा। देख! तू मर गया तो भी तुम्हारे लिए एक व्यक्ति भी मरने को तैयार नहीं है।' इतना कहकर साधु रवाना हो गया और वह युवक साधु के पीछे हो लिया।

किसी में भी उसे रोकने की हिम्मत नहीं हुई।

दुनिया में सारे रिश्ते स्वार्थ से जुड़े हैं। अंतिम यात्रा में साथ देने वाला कोई नहीं है। यह यात्रा तो अकेले ही करनी होगी।

कल ही मेरे पास एक व्यक्ति का पत्र आया है। वे मृत्यु से काफी भयभीत रहते हैं। उन्होंने स्वप्न में स्वयं को मरते हुए देख लिया होगा, सो अब वे न सो पाते हैं, न पूरा भोजन कर पाते हैं। खाना खाने बैठते हैं और वह स्वप्न याद आते ही, हाथ का कौर छूट जाता है।

हकीकत में मृत्यु में भय नहीं छिपा है। भय तो हमारे चित्त में छिपा रहता है। अब वे लिख रहे हैं कि 'मैं मृत्यु से हर समय भयभीत रहता हूँ। क्या ऐसा कोई उपाय है जिसके कारण मैं, मौत पर विजय पा सकूँ?' अब उनको क्या जवाब दिया जाये? तुम मौत से डरते भी हो और उस पर विजय भी पाना चाहते हो, पर विजय कभी कायरपन से थोड़े ही मिलेगी। और मुझे तो लगता है मृत्यु तुम्हारे मौत का कारण नहीं बनेगी, यह भय ही मृत्यु का निमित्त बन जायेगा। प्रायः मनुष्य मृत्यु से नहीं मरता, भय से मरता है। अंधेरे में अगर रस्सी को ही सर्प बता दो तो आदमी के होश उड़ जायेंगे। इसीलिए तो कहते हैं, 'साधना-मार्ग में अभयचित्त साधक ही आगे बढ़ पाएगा।'

मैंने सुना है, एक फकीर गाँव के बाहर अपनी कुटिया में रहता था। एक दिन फकीर कुटिया के बाहर बैठा था। देखा कि मृत्यु देवी उधर से गुजर रही थी। फकीर ने मौत को आगे जाते देखकर आवाज दी, 'किधर जा रही हो देवी?'

मृत्यु मुस्कराई। वह बोली, 'इस गाँव में अस्सी व्यक्तियों की मृत्यु आज है। मैं उन्हें लेने जा रही हूँ।' फकीर ने कहा, 'सो तो ठीक है, पर एक ध्यान रखना कि अस्सी से ज्यादा को मत मारना, क्योंकि तुम्हारा भरोसा नहीं है क्योंकि तुम कब किस को मार दो, गिरा दो? मृत्यु ने फकीर को आश्वासन दिया और चली गई। दूसरे दिन फकीर जब गाँव में गया तो पता चला कि गाँव में कोई आठ सौ व्यक्ति मर चुके थे। फकीर आश्चर्यचकित हुआ कि क्या मृत्यु मुझसे झूठ बोली थी? दूसरे दिन जब मृत्यु उधर से गुजरी तो फकीर ने क्रोधित होते हुए कहा कि, 'मुझे नहीं मालूम था कि तुम मुझसे भी झूठ बोलोगी। पता है, तुमने कहा था कि अस्सी को मारूँगी और गाँव में आठ सौ मर गये।' उसने कहा, 'क्षमा करें फकीर साहब! मैंने तो अस्सी को ही मारा था, शेष तो भय के कारण मर गये।'

एक और घटना मुझे याद आ रही है। एक बार एक आदमी एक सराय में रुका। रात को उसने उस सराय में भोजन किया और सुबह उठकर चलता बना। कोई दस माह बाद उसी मार्ग से वापस गुजरा तो उसी सराय में ठहरा। सराय का मालिक उसे देखकर विस्मित हुआ। उसने पूछा, 'क्या आप सकुशल हैं? वह तो काफी घबरा गया था। उसने पूछा, 'क्यों क्या हो गया था?' सराय के मालिक ने कहा, 'भाई साहब! जिस रात आप यहाँ ठहरे थे, आपने जो भोजन किया था, जो खाना बना था, उसमें एक सांप गिर गया था। चार आदमियों ने उसे खाया और वे चारों मर गये। आप तो जल्दी उठकर चले गये। आपके लिए हम काफी चिंतित थे। सोचने लगे 'न जाने

क्या हुआ होगा ! मगर आप तो जिंदा हैं ?’

उस आदमी ने कहा, ‘क्या ! उस भोजन में सांप था ? क्या मैं सांप को खा गया था ? उसके हाथ-पांव काँपे और वह वहीं गिर पड़ा। सराय के मालिक ने कहा, ‘आप घबराइये नहीं।’ पर तब तक तो वह पूरा ही घबरा चुका था और दस माह बाद भी वह मर गया।

उसे भय ने मारा, साँप ने नहीं। साँप मारता तो उसी दिन मार देता। क्या आपको पता है कि इस दुनियाँ में सर्पों की जितनी जातियाँ हैं उनमें पाँच प्रतिशत साँप ही जहरीले होते हैं। शेष में जहर नाम की चीज नहीं होती है। आदमी जहर के प्रभाव से कम किंतु साँप के भय से ज्यादा मरता है। इसलिए मृत्यु उसके पास जल्दी आती है, जो उससे भयभीत रहता है।

हमारी मृत्यु, मृत्यु के कारण कम होती है किंतु भय के कारण ज्यादा होती है। दुनिया में जितने भय तुम्हारे भीतर पल रहे हैं, उनका मूल मृत्यु का भय ही है। जो इससे अभय हो गया, उसके जीवन के दूसरे भय तो स्वतः छूट जायेंगे। मेरी नजर में मृत्यु व्यक्ति की तभी होती है जब वह भयभीत हो, अन्यथा मृत्यु उसके पास आकर भी उसकी हथेली में अमरत्व की मेहंदी ही मढ़ती है। भय हमेशा दुश्मन से होता है और निर्भयता हमेशा मित्र से होती है। हमने मृत्यु को अपना दुश्मन मान रखा है इसलिए भीतर में भय की संवेदना जगती है। यदि उसी दुश्मनी के काँटों में मैत्री के फूल खिला दिये जाएँ, तो मृत्यु हमारे जीवन में महामित्र बनकर आ सकती है।

मृत्यु पर विजय पाने की बेकार में कोशिश क्यों कर रहे हो ? कौन पा सका आज तक उस पर विजय ? और विजय पाने की जरूरत ही क्या है ? यह तो जीवन का एक विश्राम है। इस दौड़ती-भागती जिन्दगी में क्या कभी विश्राम नहीं करना है ? मृत्यु जर्जर काया को छोड़कर अभिनव काया को उपलब्ध कराती है, इसलिए मृत्यु जीवन का महा-अवसर है, महोत्सव है। स्वागत करो उसका, द्वार आये हुए अतिथि की तरह !

मैं एक परम सत्य और बता देना चाहता हूँ। संभव है, इस सत्य को आपने अब तक कई दफा शास्त्रों में पढ़ा होगा, प्रज्ञा पुरुषों से सुना भी होगा, पर आप सत्य को सत्य रूप में स्वीकार नहीं कर पाये। वह सत्य यह है कि मृत्यु जीवन का समापन नहीं है। मृत्यु के द्वार से गुजरकर जीवन नूतन होता है। जीवन को नित्य नया करने की यह अत्यंत सुव्यवस्थित व्यवस्था है, इसलिए यह कभी मत सोचना कि मृत्यु पर विजय पा लूँगा या मृत्यु से बच जाऊँगा। अगर किसी देव ने मृत्यु से बचने का वरदान भी दे दिया तो तुम्हारा जीवन इतना दुःखी हो जायेगा, इतना अशांत-पीड़ित हो जायेगा कि तुम जीवन से ही घबरा जाओगे।

सिकंदर के बारे में कहते हैं कि जब वह भारत की यात्रा पर था तो किसी एक बुजुर्ग ने उसे बताया, ‘सिकंदर ! इस भारत देश में मरुस्थलों के बीच एक ऐसा अद्भुत झरना झरता है, जहाँ का पानी अगर पी लिया जाए तो आदमी अमर हो जाता है।’ सिकंदर ने अपने सिपाहियों को आदेश दे रखा था कि जहाँ से गुजरो, यह पता लगाते रहो कि वह झरना कहाँ है ? आखिर एक दिन उस झरने का पता लग गया। सिकंदर प्रसन्नता के मारे फूला न समाया। उसने सोचा कि मैं अमर हो जाऊँगा और दुनिया को तो क्या, मौत को भी हरा दूँगा। उसने उस झरने के चारों ओर पहरा लगवा दिया और अकेला उस झरने के पास गया। छोटी-सी खोह थी वहाँ। सिकंदर ने



बड़ी सावधानी से उसके भीतर प्रवेश किया। बड़ा साफ-सुथरा जल था वहाँ। सिकंदर दंग रह गया स्फटिक-मणि की तरह चमकते इस झरने को देखकर। ऐसा चमकता जल देखना तो दूर रहा, आज तक उसने सुना तक न था।

अब सामने अमृत था। ऐसा अमृत जिसे पीकर सिकंदर अमर हो जाये। उसने झट से अंजलि भरी और पीने के लिए उसे होठों के पास ले जाने लगा। तभी वहाँ आवाज गूँजी, 'सिकंदर, रुक जा।' भय के मारे सिकंदर की अंजली खुल गई। उसने इधर-उधर देखा। कोई दिखाई नहीं दिया उस खोह में। हाँ, कोने में एक कौआ अवश्य बैठा था। कौए ने कहा, 'सिकंदर, रुक जा। पहले मेरी व्यथा सुन ले, फिर चाहे तो पानी पी लेना।

सिकंदर तो आश्चर्यचकित! कौआ और मनुष्य की भाषा बोले! उसने कहा, 'तुम्हारी क्या व्यथा-कथा है?' कौए ने कहा, 'सिकंदर, जैसे तुम आदमियों में सिकंदर हो, वैसे ही मैं कौओं में सिकंदर हूँ। मैं भी तुम्हारी तरह अमरत्व की कहानी सुनकर यहाँ आया था। मैंने जी भरकर यहाँ का जल पिया। इस बात को आठ सौ वर्ष बीत चुके हैं। सिकंदर मेरी व्यथा यही है कि मैं मरना चाहता हूँ, पर मर नहीं सकता। जहर पीता हूँ तो उसका मुझ पर असर नहीं होता। आग में गिरता हूँ तो मेरे पंख नहीं जलते। पहाड़ से गिरता हूँ तो चोट नहीं लगती। मरने के लिए सब कुछ कर चुका हूँ, फिर भी जिंदा का जिंदा। यह जिंदगी मुझे बोझ मालूम पड़ रही है। सिकंदर, मैं बहुत थक चुका हूँ, अपनी ही जिंदगी से थक चुका हूँ। अब मुझे कोई ऐसी दवा लाकर दो, कोई ऐसी दवा, जिससे इस अमरत्व को काटा जा सके।

कौआ तो चुप हो गया, लेकिन सिकंदर के विचारों ने एक नया ही मोड़ ले लिया। जो सिकंदर एक लंबी खोज के बाद अमरत्व पाने आया था, वह उल्टे पांव दौड़ा कि कहीं भूल से भी प्रलोभनवश यह अमृत की दो-एक बूंद भी मैं न पी लूँ। उसे लगा कि मौत से भी ज्यादा खतरनाक जिंदगी बन जायेगी, अगर मैंने इस अमृत को पी लिया तो।

मेरे प्रभु, जीवन के सत्य को स्वीकार करो। आखिर कब तक नकारते रहोगे उसे? मैं तो कहूँगा कि क्यों तुम मृत्यु को जीतने के उपाय ढूँढ रहे हो? अमृत की तलाश कर रहे हो। जीवन खुद एक अमृत है। तुम स्वयं एक अमृतवाही हो, इसलिए अपने जीवन के ही अमृत को प्राप्त करने का प्रयास करो और मृत्यु से सजग-साव-चेत रहने की बजाए जीवन के प्रति सजगता प्राप्त करो। जितनी सावचेती मृत्यु के प्रति रखते हो, उतनी ही सावचेती जीवन के प्रति रखोगे तो जीवन का कायाकल्प हो जायेगा। मौत से बचने और उस पर विजय पाने की बातों को छोड़ो। तुम वर्तमान में जीवित हो और जीवन का भरपूर उपयोग करने का प्रयास करो। वह ययाति हजार वर्ष जीकर भी, मृत्यु से हर बार बचकर भी जीवन में क्या कुछ पा सका था? न तृष्णाएँ शांत हुईं और न ही वासना की अग्नि बुझ पाई। हजार साल तक जीकर भी पाने के नाम पर उसकी जिंदगी सूनी ही रही। उसने बस खोया ही खोया।

जीवन को समग्रता से जीने का प्रयास किया जाना चाहिए। इतनी समग्रता से कि फिर से देह में न आना पड़े। चाहे बुद्ध हो या महावीर, वेद हो या कुरान, सबने जीवन को परिपूर्णता से जीने का ही संदेश दिया है।

बाइबल आखिर हमें यही तो समझाती है कि देह में होने का अर्थ एक विराट् अस्तित्व को एक संकीर्ण स्थान में बंद करना है। जो लोग जीवन की काफी गहराई में पहुँचे हैं, वे जानते हैं कि जीवन एक कारागृह है। जीवन की साधना यही है कि व्यक्ति इस कारागृह से शाश्वत रूप से मुक्ति पाए। अगर मृत्यु से बचने की कोशिश करते रह गये, मृत्यु पर विजय पाने की कोशिश करते रह गये तो इस कारागृह से कभी बाहर नहीं निकल पाओगे। इसी किनारे रह जाओगे और उस किनारे का कभी स्पर्श भी नहीं कर पाओगे। अगर कुछ पाना है तो उस किनारे जाना पड़ेगा। यहाँ तो मनुष्य के लिए खोने के सिवाय पड़ा ही क्या है ?

बाहर के अस्तित्व में रहस्यों के उद्घाटन के लिए काफी कोशिश कर चुके हो, पर अन्तर अस्तित्व, अन्तर का विज्ञान, जीवन की महागुफा, आखिर, कब इसकी खोज करोगे ? कब इसमें प्रवेश करोगे ? छोड़ो मृत्यु की झूठी बातों को। मौत हमेशा सच्चाई नहीं होती, सच्चाई हमेशा जिंदगी ही होती है। एक क्षण के लिए घटने वाली घटना का भार जिंदगी भर तक ढोना अज्ञान नहीं तो और क्या है ?

अगर जागरूकता के साथ जीवन जीया तो, मृत्यु मित्र की तरह आएगी, नया जीवन, नई देह, नया बचपन और नयी ताजगी लिये हुए। जिस व्यक्ति ने जीवन को समग्रता के साथ जीया, ध्यानपूर्वक जीया, जीवन को समाधि में रूपान्तरित किया, उसके लिए भी मृत्यु मित्र बनकर आएगी। वह मृत्यु कहीं उसे विराट् आकाश में लीन कर देगी। गंगा को गंगा-सागर का रूप दे देगी और उस परम शून्य के करीब पहुँचा देगी, जहाँ सत्य है, चैतन्य है, परम आनंद है। वहाँ देह नहीं होगी, केवल बोध होगा, चिन्मात्र होगा।

एक बात तय है कि हर आदमी की मौत है। हर कोई मृत्यु की 'क्यू' में खड़ा है। इस पंक्ति में किसी का नम्बर आज, किसी का कल, किसी का मंगलवार को, किसी का गुरुवार को, लेकिन बारी सबकी आनी है। जब जाना अनिवार्य है तो जाने से पहले कुछ ऐसा हो जाए कि जाना भी यादगार बन जाय। हमारी मृत्यु भी जीवन का इतिहास बना जाये।

मृत्यु की यात्रा पूरी तरह एकाकी होती है। मृत्यु के बाद परिजन नहीं, वरन् जीवन में किये हुए शुभ या अशुभ कर्म ही साथ निभाते हैं। आखिर जो हर आखिर में हमारा साथ निभाएगा, हमें उसकी ओर ध्यान देना चाहिये। या तो पूरी तरह से कार्यों से ही मुक्त हो जायें और या फिर जीवन में इतने पुण्योपार्जन कर लें जिससे हमारी अगली यात्रा सुखद रहे। हम ही नहीं, हमारी परछाईं भी सुखी रहे, गौरवान्वित बने।

परिजनों के बीच रहकर भी यह बोध सदैव रखना चाहिये कि आखिर मैं अकेला हूँ। दुनिया का मेल कितना भी क्यों न हो, पर मैं तो आखिर अकेला हूँ। जो इस भीड़ भरे जीवन में अपने अकेलेपन का शाश्वत बोध रखते हैं, वे स्वयं शाश्वत हो जाते हैं। मृत्यु उन्हें मिटाने का भले ही प्रयास करे, पर वे अमिट हो जाते हैं। मृत्यु जीवन का समापन नहीं है। वह तो जीवन का आखिरी पड़ाव है। यात्रा शुरू हुई है, तो जीवन के इस आखिरी पड़ाव से भी गुजरना ही होगा। देहरी तक जाने के लिए सीढ़ियों को पार करना ही होगा और जब देहरी तक पहुँचना ही है तो सीढ़ियों से व्यामोह कैसा ? पड़ावों से राग कैसा ? मेरा 'मैं' मुझमें है, तेरा 'तू' तुझमें है। 'मैं' मुझमें रहे और 'तू' तुझमें रहे- बस इतना ही काफी है। 'मैं' मुझमें और तू तुझमें, यही सार है। सुख की कहीं

और खोज करना ही मृतृष्णा है। सभी अपने में डूबें, अपने में जीयें। यही जीवन से मैत्री है और यही मृत्यु से भी मैत्री है।

मृत्यु क्या है? यह भयभीत भी करती है और भयमुक्त भी। वह न तो मंगल है और न अमंगल है। वह व्यक्ति के लौकिक जीवन का समापन करती है। चाहे राजा हो या रंक, युवा, बाल या वृद्ध, यह सबको मंच से उखाड़ देती है। मजे की बात तो देखो, यह सबके लिए आती है, सबको लेकर जाती है। यह कइयों को शांति देती है और कइयों की शांति छीन लेती है। चाहे स्वर्ग हो या नरक, चाहे मोक्ष भी क्यों न हो, बिना मृत्यु के द्वार से गुजरे कोई कहीं नहीं पहुँच पाया। अब तक ऐसा कोई भी तो नहीं हुआ है जो इस द्वार से न गुजरा हो।

ईमानदारी तो यह है कि इस दुनिया में सब कुछ नश्वर हो सकता है, पर मृत्यु शाश्वत है। मृत्यु कल भी थी, आज भी है और कल भी रहेगी। यह कालातीत है। मृत्यु पूरी तरह से तटस्थ है। यह अमीर-गरीब का भेद नहीं करती है। जात-पाँत का कोई भी फर्क इसके सामने नहीं चलता है। राम-कृष्ण, महावीर-बुद्ध, ईसा-सुकरात, कोई उससे लोहा न ले पाये। इसलिए एक मात्र यही अपराजेय है पर फिर भी है। जो लोग अनासक्तमन होकर निष्कांक्ष कर्म करते हैं, जीवन की सांध्यवेला में मृत्यु उनका बलात् अपहरण नहीं करती अपितु सुगंधित फूलों से उसका स्वागत करती है। मृत्यु संसार से मुक्ति दिलाकर दिव्य ज्योति प्रकट करती है।

# जितयशा फाउंडेशन का श्रेष्ठ साहित्य

लागत से भी कम मूल्य पर

ऐसे  
जिएँ



ऐसे जिएँ : श्री चन्द्रप्रभ

जीने की शैली और कला को उजागर करती विश्व-प्रसिद्ध पुस्तक। स्वस्थ, प्रसन्न और मधुर जीवन की राह दिखाने वाली प्रकाश-किरण। पुस्तक महल से भी प्रकाशित।

पृष्ठ : 122, मूल्य 20/-



लक्ष्य बनाएँ, पुरुषार्थ जगाएँ : श्री चन्द्रप्रभ  
जीवन में वही जीतेंगे जिनके भीतर जीतने का पूरा विश्वास है। सफलता के शिखर तक पहुँचाने वाली प्यारी पुस्तक। पुस्तक महल से भी प्रकाशित।

पृष्ठ : 104, मूल्य 20/-



जागो मेरे पार्थ : श्री चन्द्रप्रभ

गीता की समय-सापेक्ष जीवन्त विवेचना। भारतीय जीवन-दृष्टि को उजागर करता प्रसिद्ध ग्रन्थ। फुल सर्कल, दिल्ली से भी प्रकाशित।

पृष्ठ : 230, मूल्य 40/-



जागो सो महावीर : श्री चन्द्रप्रभ

भगवान महावीर के विशिष्ट सूत्रों पर अमृत प्रवचन। अन्तर्मन में अध्यात्म की रोशनी पहुँचाता प्रकाश-स्तम्भ। ज्ञानवर्धन एवं मार्गदर्शन के लिए महावीर पर नई दृष्टि।

पृष्ठ 252, मूल्य 30/-



ध्यानयोग : विधि और वचन : श्री ललितप्रभ

ध्यान योग की वास्तविक समझ पाने के लिए विशेष उपयोगी। साथ ही ध्यान-योग की विस्तृत विधि। पुस्तक महल दिल्ली से भी प्रकाशित।

पृष्ठ : 148, मूल्य 30/-



महाजीवन की खोज : श्री चन्द्रप्रभ

अध्यात्म की बारीकियों का मार्गदर्शन करता सम्प्रदायातीत ग्रन्थ। आचार्य कुंदकुंद, योगीराज आनंदधन एवं श्री मद् राजचन्द्र के सूत्रों एवं पदों पर प्रवचन।

पृष्ठ : 176, मूल्य 35/-



क्या स्वाद है जिंदगी का : श्री ललितप्रभ  
जीवन के विभिन्न सार्थक और सकारात्मक पहलुओं को आत्मसात कराने वाली लोकप्रिय पुस्तक।

पृष्ठ 146, मूल्य 20/-



फिर कोई मुक्त हो : श्री चन्द्रप्रभ

अतीत के प्रेरक प्रसंगों पर दिए गए विशिष्ट प्रवचन। छोटे-बड़े सभी के लिए उपयोगी।

पृष्ठ 100, मूल्य 20/-



कैसे करें व्यक्तित्व-विकास :

श्री चन्द्रप्रभ

जीवन और व्यक्तित्व-विकास पर बेहतरीन-बाल मनोवैज्ञानिक प्रकाशन।

पृष्ठ 100, मूल्य 20/-



संबोधि : श्री चन्द्रप्रभ

साधना के महत्वपूर्ण पहलुओं पर उद्बोधन। सर्वजन हिताय ; सर्वजन सुखाय।

पृष्ठ 100, मूल्य 20/-



पर्युषण-प्रवचन : श्री चन्द्रप्रभ

पर्युषण-पर्व के प्रवचनों को घर-घर पहुँचाने वाला एक प्यारा प्रकाशन।

पढ़ें, कल्पसूत्र को अपनी भाषा में।

पृष्ठ 112, मूल्य 20/-



मारग साँचा मिल गया : श्री चन्द्रप्रभ

अध्यात्म-पुरुष श्रीमद् राजचन्द्र के प्रमुख पदों पर मानक प्रवचन।

स्वाध्याय की श्रेष्ठ सामग्री।

पृष्ठ 100, मूल्य 20/-



धर्म में प्रवेश : श्री चन्द्रप्रभ

नित्य नये पंथों और उपासना-पद्धतियों के बीच धर्म के स्वच्छ मौलिक स्वरूप का निर्देशन। नई पीढ़ी के लोग अवश्य पढ़ें।

पृष्ठ : 96, मूल्य 20/-



**पल-पल लीजिए जीवन का आनंद : श्री चन्द्रप्रभ**  
जीवन के आध्यात्मिक आनंद से मुखातिब कराने वाली प्यारी पुस्तक ।  
पृष्ठ 104, मूल्य 20/-



**जीने के उमूल : श्री चन्द्रप्रभ**  
सफल और सार्थक जीवन जीने का अनमोल खजाना । जीने की दृष्टि, शक्ति और प्रेरणा देने वाली चर्चित पुस्तक ।  
पृष्ठ 144, मूल्य 20/-



**धर्म, आखिर क्या है : श्री ललितप्रभ**  
अमृत प्रवचन, जो हमें वर्तमान सन्दर्भों में जीवन जीने की कला प्रदान करते हैं । पुस्तक महल दिल्ली से भी प्रकाशित  
पृष्ठ 160, मूल्य 30/-



**ज्योति कलश छलके : श्री ललितप्रभ**  
जीवन-मूल्यों को ऊपर उठाने वाली एक प्यारी पुस्तक । भगवान महावीर के सूत्रों पर प्रवचन ।  
पृष्ठ 160, मूल्य 30/-



**महागुहा की चेतना : श्री ललितप्रभ**  
संबोधिका प्रकाश आत्मसात करने के लिए मुमुक्षुओं को दिया गया अमृत मार्गदर्शन ।  
पृष्ठ 112, मूल्य 20/-



**ध्यान का विज्ञान : श्री चन्द्रप्रभ**  
ध्यान की सम्पूर्ण गहराइयों को प्रस्तुत करता एक समग्र ग्रन्थ । अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर चर्चित । राजस्थान पत्रिका से भी प्रकाशित ।  
पृष्ठ 124, मूल्य 30/-



**शांति पाने का सरल रास्ता : श्री चन्द्रप्रभ**  
सच्ची शांति, सौन्दर्य और आनंद प्रदान करने वाली चर्चित पुस्तक ।  
पृष्ठ 100, मूल्य 20/-



**कैसे सुलझाएं मन की उलझन : श्री ललितप्रभ**  
चिंता, क्रोध और तनाव जैसी समस्याओं से छुटकारा दिलाने वाली एक सर्वश्रेष्ठ पुस्तक ।  
पृष्ठ 140, मूल्य 20/-



**श्री चन्द्रप्रभ की श्रेष्ठ कहानियाँ**  
श्री चन्द्रप्रभ की श्रेष्ठ कहानियों का प्यारा संकलन । पुस्तक जो संपूर्ण देश में पढ़ी जा रही है ।  
पृष्ठ 102, मूल्य 20/-



**मैं कौन हूँ : श्री चन्द्रप्रभ**  
वे प्रवचन जो हमें दिखाते हैं अध्यात्म और आत्म-रूपांतरण का रास्ता ।  
पृष्ठ 100, मूल्य 20/-



**कैसे पाएँ मन की शांति : श्री चन्द्रप्रभ**  
चिंता, तनाव और क्रोध के अंधेरे से बाहर लाकर जीवन में शांति, विश्वास और आनंद का प्रकाश देने वाली बेहतरीन जीवन-दृष्टि ।  
पृष्ठ 116, मूल्य 20/-



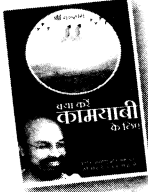
**न जन्म, न मृत्यु : श्री चन्द्रप्रभ**  
आत्मा से आत्मा की सार्थक वार्ता ; अष्टावक्र-गीता पर दिए गए अद्भुत प्रवचन । अध्यात्म-प्रेमियों के लिए विशेष उपयोगी ।  
पृष्ठ 160, मूल्य 30/-



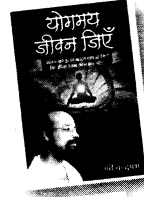
**अब भारत को जगना होगा : श्री चन्द्रप्रभ**  
भारत की मूल भावना और दृष्टि को समझाने वाली एक बेहतरीन पुस्तक ।  
पृष्ठ 150, मूल्य 30/-



**प्रेरणा : महोपाध्याय ललितप्रभ सागर**  
आध्यात्मिक संतों के जीवन से जुड़े प्रेरक प्रसंग । सहज में पाइए धर्म-अध्यात्म की दृष्टि ।  
पृष्ठ 100, मूल्य 20/-



**क्या करें कामयाबी के लिए :**  
श्री चन्द्रप्रभ  
कामयाबी के लिए हर रोज नई प्रेरणा देने वाली एक सुप्रसिद्ध पुस्तक।  
पृष्ठ 100, मूल्य 20/-



**योगमय जीवन जीएँ :** श्री चन्द्रप्रभ  
सफल और सार्थक जीवन की आध्यात्मिक दृष्टि। योग पर प्यारा प्रकाशन।  
पृष्ठ 100, मूल्य 20/-



**सकारात्मक सोचिए, सफलता पाइये :**  
श्री चन्द्रप्रभ  
स्वस्थ सोच और सफल जीवन का द्वार खोलती लोकप्रिय पुस्तक।  
पृष्ठ 120, मूल्य 20/-



**संबोधि-साधना का रहस्य :** श्री चन्द्रप्रभ  
जीवन को अधिक सुंदर, स्वस्थ और ऊर्जावान बनाने का बेहतरीन मार्गदर्शन।  
पृष्ठ 100, मूल्य 20/-



**फिर महावीर चाहिए :** श्री चन्द्रप्रभ  
महावीर अतीत की नहीं वर्तमान की आवश्यकता है। फिर से समझिए महावीर को।  
पृष्ठ 96, मूल्य 20/-



**आंगन में प्रकाश :** श्री ललितप्रभ  
तीस प्रवचनों का अनूठा आध्यात्मिक संकलन, जो आम आदमी को प्रबुद्ध करता है। और जोड़ता है उसे अस्तित्व की सत्यता से।  
पृष्ठ 200, मूल्य 30/-



**महान जैन स्तोत्र :** श्री ललितप्रभ  
महान चमत्कारी धार्मिक स्तोत्रों का अनुपम खज़ाना।  
पृष्ठ 125, मूल्य 20/-



**आपकी सफलता आपके हाथ :**  
श्री चन्द्रप्रभ  
सफलता हर किसी को चाहिए, पर उसे पाएँ कैसे, पढ़िये इस प्यारी पुस्तक को।  
पृष्ठ 110, मूल्य 20/-



**कैसे जिएँ मधुर जीवन :** श्री चन्द्रप्रभ  
सुमधुर और सुव्यवस्थित जीवन जीने की कला सिखाने वाली बेहतरीन पुस्तक।  
पृष्ठ 120, मूल्य 20/-



**जीवन की बुनियादी बातें :** श्री ललितप्रभ  
व्यावहारिक और आध्यात्मिक जीवन का मार्गदर्शन। जीवन की आध्यात्मिक समझ देने वाली पुस्तक।  
पृष्ठ 100, मूल्य 20/-

**विशेष** — अपने घर में अपना पुस्तकालय बनाने के लिए फाउंडेशन ने एक अभिनव योजना बनाई है। इसके अंतर्गत आपको सिर्फ एक बार ही फाउंडेशन को पच्चीस सौ रुपए देने होंगे, जिसके बदले में फाउंडेशन अपने यहाँ से प्रकाशित होने वाले प्रत्येक साहित्य को आपके पास आपके घर तक पहुंचाएगा और वह भी आजीवन। इस योजना के सदस्य बनते ही आपको फाउंडेशन द्वारा प्रकाशित संपूर्ण 'उपलब्ध साहित्य' नि:शुल्क प्राप्त होगा। जिसका डाक-खर्च हमारा संस्थान वहन करेगा। इसके अन्तर्गत फाउंडेशन से प्रकाशित संबोधि टाइम्स मासिक पत्रिका भी आपको आजीवन नि:शुल्क प्राप्त होगी।

न्यूनतम दो सौ रुपये का साहित्य मंगाने पर डाक व्यय संस्था द्वारा देय। धनराशि Sri Jit-yasha Shree Foundation के नाम ड्राफ्ट बनाकर जयपुर के पते पर भेजें। वी.पी.पी. से साहित्य भेजना शक्य नहीं होगा। आज ही अपना ऑर्डर निम्न पते पर भेजें-



## जितयशा फाउंडेशन

बी-7, अनुकम्पा द्वितीय, एम.आई. रोड़, जयपुर - 302 001, फोन : 2364737, मो. 94142-55471

# संवाधि-टाइम्स

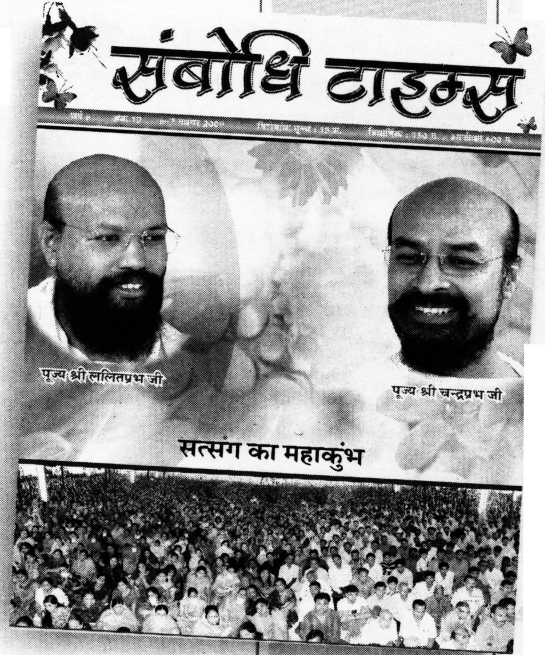
मासिक पत्रिका

करें आपकी जिंदगी को चार्ज

श्रेष्ठ ज्ञान और श्रेष्ठ चिंतन के  
प्रसार की पवित्र भावना से  
प्रकाशित  
संपूर्णतः लाभ-निरपेक्ष

त्रिवार्षिक : 150/-

आजीवन : 600/-

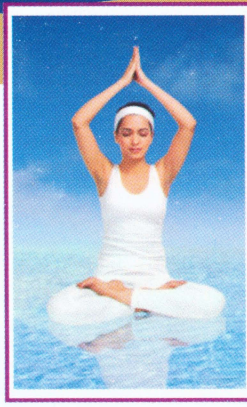


सदस्यता ग्रहण करने हेतु  
मनीऑर्डर अथवा ड्राफ्ट निम्न पते पर भेजें -

**SRI JITYASHA SHREE FOUNDATION**

B-7, Anukampa JJ Phase, M. J. Road, Jaipur (Raj.)

Ph. 0141-2364737



जीवन और जगत के बीच एक गहरा अन्तर्-सम्बन्ध है। जीवन जगत का प्रतिबिम्ब है और जगत जीवन का विस्तार है। मनुष्य यदि जगत की आपाधापी में ही स्वयं को खो दे तो यह मनुष्य का 'संसार' हुआ। जगत में जीकर भी अगर वह कीचड़ में खिलते कमल की तरह ऊपर उठ आये तो यह उसका 'अध्यात्म' हुआ।

जीवन का आधार उसकी अपनी आत्मा है। जीवन के जर्रे-जर्रे में आत्मा का निवास और प्रकाश है। आत्मा ही वह धुरी है जो जीवन को एक बार नहीं सौ बार मृत्यु से गुजर जाने के बावजूद सतत सनातन बनाए रखती है। सच तो यह है कि अध्यात्म आत्मा के ही आभामंडल का नाम है।

जीवन को अगर सार्थक करना है तो हमें जगत् में रहकर भी वीतद्वेष, वीतराग-भाव से जीना है। हमें अपने

कर्तव्यों को निभाते हुए दुनिया में इस तरह जीना है कि काँटों में भी फूल खिल

आयें, अंधेरे में भी रोशनी का रहनुमा साकार हो उठे। जीवन तो बस कोरे कागज की तरह है। उस पर जैसे रंग भर दें, जो चित्र उकेर दें, कागज पर वैसा ही उभर आएगा। जीवन के कागज पर क्रॉस तो लोग कर ही रहे हैं, हम अगर इन्द्रधनुष उकेर लें तो यह सार्थक पहल होगी।

प्रस्तुत पुस्तक 'अध्यात्म का अमृत' महोपाध्याय श्री ललितप्रभ सागर जी की वह अनुपम कृति है जिसमें जीवन-जगत् के आन्तरिक रहस्यों को उद्घाटित किया गया है, अध्यात्म के अनछुए पहलुओं पर प्रकाश डाला गया है। दिखने में ये सीधे-सादे प्रवचन हैं, पर इनकी गहराई हर व्यक्ति को सीधे अपने अन्तर्मन में उतारती है।